हिन्दी और उसके आचार्य

लेखक—
केदारनाथ भट्ट, एम० ए०
रमेशकुमार शर्मा, एम० ए०

मूल्य १।

प्रकाशक
केदारनाथ भट्ट, बनारसी [illegible], [illegible]

सोल एजेण्ट्स
श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा

Gurmai Singh
Class X A U.P.,
Hitkari High School
Kotah

दो शब्द

इस पुस्तक में विद्यार्थियों को हिन्दी-साहित्य से परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। आरम्भ में संक्षिप्त इतिहास का दिग्दर्शन कराकर, काल-विभाग के अनुसार मुख्य-मुख्य कवियों का आलोचनात्मक वर्णन, संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त सहित, दिया गया है। गद्य-लेखकों का वर्णन अलग दे दिया है जिससे गद्य के क्रमिक विकास का ज्ञान भी हो जाय।

हमने इस बात को ध्यान में रक्खा है कि विद्यार्थियों का आलोचनात्मक अध्ययन में प्रथम प्रवेश कराना है। इस कारण यथासम्भव समीक्षाओं को क्लिष्ट और गूढ़ होने से बचाया गया है। साथ ही साथ सुगम और सरल रीति से विद्यार्थियों की विवेचना-शक्ति को विकसित करने के पूरे साधन प्रस्तुत कर दिये गये हैं। पुस्तक पढ़ने और समझने पर विद्यार्थियों को अपने साहित्य तथा आचार्यों से न केवल परिचय ही प्राप्त होगा बल्कि उनमें गुण-दोष पहचानने का विवेक भी उत्पन्न हो सकेगा, ऐसी हमारी आशा है।

—लेखक

विषय-सूची

हिन्दी और उसके आचार्य

हिन्दी-साहित्य लगभग ६०० वर्ष पुराना है। हिन्दी भाषा में काव्य का लिखा जाना आज से कोई ६०० वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था। उस समय केवल कविता ही लिखी जाती थी। प्रत्येक देश के साहित्य में आरम्भ में कविता ने ही स्थान पाया है। हिन्दी में गद्य का लिखा जाना केवल आधुनिक काल में ही आरम्भ हुआ है, यद्यपि रीति-काल में भी छुट-पुट प्रयत्न गद्य-लेखन की ओर हुए थे। हम इसी कारण गद्य का इतिहास आधुनिक काल में ही देंगे।

विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य को, अध्ययन की सरलता के लिए चार कालों में विभाजित किया है। यद्यपि चारों कालों में अन्य प्रकार की कविता भी हुई है, किन्तु उस काल की मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही उस विशेष काल का विशेष नाम पड़ा है। वे चार काल हैं :—

(१) वीर-गाथा-काल	संवत् १०५० से १४०० तक।
(२) भक्ति-काल	संवत् १४०० से १७०० तक।
(३) रीति-काल	संवत् १७०० से १९०० तक।
(४) आधुनिक काल	संवत् १९०० से अब तक।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सब कालों के नाम उस काल की विशेष भावनाओं को व्यक्त करने वाले हैं। आधुनिक काल मे किसी विशेष भाव का प्राधान्य न होने के कारण उसे केवल 'आधुनिक' नाम दे दिया है। वैसे आधुनिक काल में गद्य का आरम्भ हुआ था, और कुछ लोग इसी कारण उसे गद्य-युग भी कहते हैं।

अब हम इन चारों कालों में हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों तथा उसके इतिहास पर विचार करेंगे।

वीर-गाथा-काल

(सं० १०५० से १४००)

जिस समय हिन्दी-साहित्य का आरम्भ हुआ उस समय देश की परिस्थिति ऐसी थी जिसमें कि वीर-काव्य को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार की कविता करना असम्भव था। वीर-काव्य का तात्पर्य यह नहीं कि उस कविता में और किसी भी प्रकार के भाव न थे। उस समय के काव्य-ग्रन्थों में वीर रस की पुष्टि के लिए शृङ्गार रस को भी स्थान दिया गया है, किन्तु शृङ्गार का स्थान सर्वदा गौण ही रहा है। तत्कालीन परिस्थिति ही ऐसी थी जिसमें कि इन दो भावों को छोड़ कर अन्य भावों की ओर ध्यान देना कवियों के लिए सम्भव ही न था। देश में छोटे-छोटे अनेक राजा राज्य करते थे। उनका काम केवल युद्ध तथा भोग-विलास था। किसी अन्य राजा की कन्या का हरण करने के लिए वे अनायास ही युद्ध करते थे और उस युद्ध में उनके साथ उनके भाट-चारण भी जाया करते थे। उस समय के कवि केवल कविता करने वाले साहित्यिक कीट ही न थे, वरन् वे अपने स्वामी के साथ

तलवार लेकर युद्धों में भी जाया करते थे। युद्ध या तो किसी स्त्री के कारण होते थे या यों ही शत्रुता निभाने के लिए। जिन राजाओं में इतना बल न था कि वे युद्ध कर सकें उनके कवि वैसे ही झूठी विरुदावली सुना-सुना कर उन्हें प्रसन्न किया करते थे। उनके पूर्वजों के किये हुए वीर-कर्मों को उनके नामों के साथ जोड़-जोड़ कर वे उनके चित्तों को प्रसन्न किया करते थे। यह तो उस समय की देश की आन्तरिक परिस्थिति थी।

हिन्दी साहित्य के जन्म के समय देश पर बाहरी आक्रमण भी होने लगे थे। गौरी के आक्रमण उसी समय हुए और उससे युद्ध करने में पृथ्वीराज ने कुछ भी न उठा रक्खा। उसके दरबारी कवि चंद बरदाई ने उसके विषय में कविता की और उसके साथ युद्ध-क्षेत्र में जाकर युद्ध भी किया। चूंकि उस समय देश में युद्धों का बाहुल्य था अतः कवियों को भी और किसी भाव की ओर ध्यान देने का समय न मिलता था। युद्ध में लड़ते और उसके बाद यदि जीवित रहते तो घर जाकर आनन्द-प्रमोद में समय नष्ट करते थे। देश अथवा जाति का इस प्रकार के कर्मों से क्या हाल होता जा रहा था इसकी ओर उनका ध्यान ही न जाता था। केवल वीर तथा शृंगार रस में मग्न रहना ही राजाओं का काम था। कवि उस समय के राज्याश्रित हुआ करते थे, अतः उनका कार्य भी केवल अपने स्वामियों का विनोद करना रह गया था।

उस समय की कविताओं का प्रचार केवल मुख से होता था। छपाई का तो उस समय कोई प्रबन्ध था ही नहीं, अतः कविता लिखी जाती थी और उनका प्रचार कण्ठ से कण्ठ तक कण्ठों द्वारा ही होता था। याद करने में तथा उच्चारण
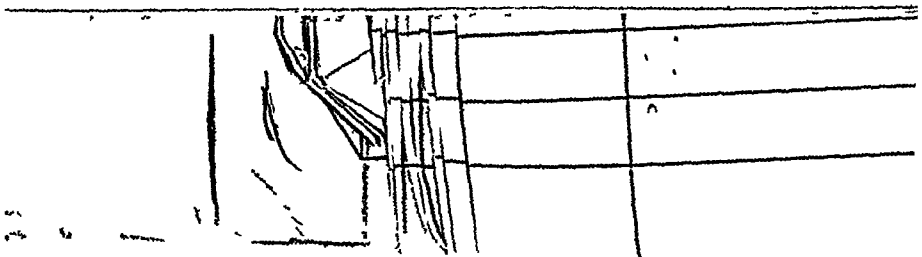
में प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न हुआ करती है; अतः कविता में भेद हो जाया करता था। यहाँ तक कि कुछ समय बाद उसका अपना रूप लोप ही हो जाता था, जैसे आल्हा, जो कि उस समय की कविता है; उसका रूप आजकल बिलकुल बदल गया है। उसका असली रूप क्या था, विद्वान् अभी तक नहीं बता सके हैं। कवि लोग अच्छे काव्यों में अपनी ओर से मिलावट भी किया करते थे, किन्तु अपना नाम नहीं देते थे। इससे एक काव्य अनेक कवियों की कविताओं का संग्रह-सा हो जाता था और नाम एक ही कवि का होता था। भिन्न समय के क्षेपकों में भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक तथ्य तथा घटनाओं के होने के कारण उसका ऐतिहासिक मूल्य ही जाता रहता था। अतः किस समय किसने क्या लिखा यह बताना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

हिन्दी के आरम्भिक काल की भाषा भी बड़ी अव्यवस्थित थी, उसमें पाली तथा प्राकृतों का समावेश था। अतः आजकल उसका समझना भी कठिन होगया है और इसी कारण लोग उन्हें पढ़कर खोज करने में घबराते हैं। उस समय के मुख्य-मुख्य कवि थेः—दलपति विजय (खुमान रासो के रचयिता) चंद (पृथ्वीराज रासो के रचयिता), जगनिक (आल्हा), श्रीधर, खुसरो, पृथ्वीराज तथा विद्यापति। वैसे नरपति नाल्ह आदि एक आध और भी कवि हुए हैं, किन्तु उनके काव्यों का प्रमाण कम मिलता है।

इनका काल-निर्देश करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस काल के ग्रन्थों का बड़ा भारी अभाव है, और जो ग्रन्थ मिलते हैं उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

भक्ति-काल

(सं० १४०० से १७००)

वीर-गाथा-काल में युद्धों का बाहुल्य था, उस समय तलवार तथा कलम का साथ बड़ा घनिष्ठ हो गया था। किन्तु भक्ति-काल के आरम्भ होते-होते देश में मुसलमानों का राज्य पूर्णतया जम गया था। देशवासी एक प्रकार से अपने गौरव से हीन हो गये थे। उन्हें चारों ओर मुसलमानी राज्य के अत्याचार तथा अपनी दासता की दीनता ही दिखाई देती थी। अपनी ही फूट के कारण, अपनी ही विलासांधता के कारण, अपनी ही भूलों के कारण उनको अपनी राजनैतिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता से हाथ धोने पड़े थे। पराधीन होने के कारण तथा निर्बल होने के कारण वे सशस्त्र विद्रोह न कर सकते थे। देशवासियों में स्वाभिमान की भावना जगाने के लिए कविगण प्रकट रूप से प्रचार भी न कर सकते थे, अतः केवल एकान्त में बैठकर कविता करना तथा भगवान् की ओर दृष्टि लगाना ही उनका एकमात्र सहारा रह गया था। अपने धर्म का प्रचार तो उस समय कठिन था ही, उसके ऊपर मुसलमानी धर्म का प्रचार बड़े जोरों से चल रहा था। उस समय की ऐसी संकटापन्न परिस्थिति में कवियों ने भक्ति-रस के काव्य लिखना आरम्भ किया।

आरम्भ में कवियों ने मुसलमानी तथा हिन्दू धर्म दोनों में सामंजस्य रखते हुए कविता की। कबीर ने अपने मत में दोनो धर्मों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया। उस समय के कवि अधिकतर सन्त हुआ करते थे; और थोड़े से कवियों को छोड़ कर सब ही कवि प्रायः किसी विशेष मत के या तो चलाने वाले थे या किसी विशेष मत में दीक्षित थे। उस

समय राज्य मुसलमानों का था और प्रजा थी अधिकतर हिन्दू, अतः उस कवि का प्रभाव अधिक पड़ता था जिसने कि दोनों धर्मों को एक में लाकर मिलाने का प्रयत्न किया। कबीर का प्रभाव इसी कारण अधिक था। किन्तु बाद में जब मुसलमानी राज्य पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो गया और अकबर जैसे राजाओं ने धार्मिक पक्षपात एकदम बन्द सा ही कर दिया, तब कवियों ने अपने धर्म की कविता बड़े जोश के साथ आरम्भ कर दी। उन कवियों में अपने भगवान् के विशेष रूप के प्रति बड़ी भक्ति थी। और होती क्यों न, वे अधिकतर संसार-त्यागी संत थे। भक्ति-काल के कवियों की विशेषता यह भी है कि उस समय मुसलमान कवियों ने भी हिन्दी में कविता की—चाहे किसी कारण से भी क्यों न की हो। कुछ लोग कहते हैं कि उनका स्वभाव ही इतना कोमल था कि उन्होंने हिन्दुओं को प्रसन्न रखना चाहा, किन्तु तात्पर्य यह है कि उन सबने धर्म के प्रचार के लिए ही ऐसा किया है। यहाँ तक कि जायसी ने भी—जो कि बड़े ही कोमल स्वभाव के संत कहे जाते हैं, मुसलमानी धर्म के प्रचार का प्रयत्न अपनी कुछ पुस्तकों में किया है।

उस समय का विशेष भाव भक्ति का होने के कारण उस काल का नाम भक्ति-काल पड़ा, किन्तु उस भक्ति-भावना में भी भेद था, और उस भेद का कारण विशेष मतानुयायी होना था। कुछ कवि निर्गुण मत के मानने वाले थे, कुछ सगुण के, इस प्रकार दो भेद हो गये। इन भेदों के भी प्रभेद हुए। इन भेद-प्रभेदों का आधार था मत-वैभिन्य। कोई योग-मार्गी था, कोई निर्गुण-मार्गी था और कोई वैष्णव था, तो कोई अपना अलग ही पंथ लिए फिरता था।

ऊपर हम देख चुके हैं कि भक्ति-काल में भक्ति की रचना हुई, किन्तु इस समय में कुछ-कुछ कहीं-कहीं वीर तथा शृंगार की कविता भी हुई थी। भक्ति-काल में कविता की भाषा भी वीर-गाथा-काल से भिन्न हो गई थी। वीर-काल में भाषा डिंगल-सी थी, जो कि हिन्दी का प्रारम्भिक रूप थी; किन्तु भक्ति-काल में भाषा का मार्जन होना आरम्भ हुआ। कबीर की खिचड़ी भाषा से लेकर तुलसी की-सी विशुद्ध अवधी में कविता होने लगी। प्रारंभ में भाषा का रूप बड़ा ही उखड़ा-सा था, उसमें एकरूपता न थी। पंजाबी, बिहारी, व्रज तथा अवधी का एक विचित्र मेल-सा बनाकर कबीर ने अपनी कविता की थी। और चूंकि वे पढ़े-लिखे न थे, अतः उसमें शिष्यों की कृपा से मिलावट भी खूब हुई। भाषा का रूप कवियों के हाथ में पड़ कर सुधरने लगा। प्रारम्भ में कबीर ने जिस विचित्र भाषा में कविता की उससे पूर्णतया भिन्न भाषा का प्रयोग उनसे बाद के कवियों ने किया। उसमें विशेषता यह रही कि आगे चलकर कवियों ने दो भाषाओं को अपनाया। वीर-काल में काव्य की भाषा एक थी किन्तु भक्ति-काल में कवियों ने व्रज तथा अवधी दो भाषाओं में कविता करना आरम्भ किया।

सूर तथा उनके साथी अष्टछापी कवियों ने व्रज को अपनाया, उसके रूप को निखारा, और तुलसी तथा जायसी ने अवधी को उसके ग्रामीण रूप से उबार कर साहित्यिक रूप दिया। भक्ति-काल के कवियों को ही इस बात का श्रेय है कि उन्होंने हिन्दी-कविता की भाषा को उसका स्थिर रूप दिया, उसकी उन्नति के लिए कार्य आरम्भ किया। भाषा के सम्बन्ध में भक्ति-कालीन कवियों के काव्यों में बड़ा भेद है, और यदि

हम समयानुक्रमानुसार उनकी भाषा को देखें तो उसमें हमें भाषा की गठन और उसकी शक्ति के विकास का क्रम मिल जायगा। हम भक्तिकाल के विभिन्न मतों को लेंगे। इन मतों को लेकर ही भक्ति की भावना ने चार शाखाओं में विभाजित होकर भारत को भक्ति-रस से आप्लावित किया था। इन चार शाखाओं का मूल भी दो मुख्य शाखाओं में खोजा जा सकता है।

प्रथम, भक्ति-भावना दो शाखाओं में बँटी—(१) निर्गुण शाखा, (२) सगुण शाखा। फिर इन दोनों शाखाओं के भी दो-दो भेद हो गए।

(१) निर्गुण—ज्ञान-मार्गी निर्गुण शाखा तथा प्रेम-मार्गी निर्गुण शाखा।

(२) सगुण—राम-मार्गी सगुण शाखा तथा कृष्ण-मार्गी सगुण शाखा।

अब हम इन चारों शाखाओं का वर्णन आगे करेंगे।

(१) निर्गुण शाखा

(क) ज्ञान-मार्गी निर्गुण शाखा

भक्ति-काल के आरम्भ में, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, संतों का प्रभाव अधिक था और कवि तथा संत पर्यायवाची समझे जाते थे। हिन्दू धर्म में सगुण भक्ति का प्राधान्य है, अर्थात् भगवान् के गुणों का वर्णन बड़े प्रेम से हिन्दू धर्म में किया जाता है, और उसकी वेश-भूषा आदि का विवरण देकर मूर्ति रचाकर उसकी पूजा की जाती है। मुसलमानी धर्म में 'बुतपरस्ती' कुफ्र होती है। और वहाँ केवल एक खुदा के लिए स्थान है जो कि सर्वशक्तिमान् है। मुसलमानी

धर्म में उसका स्वरूप कुछ नहीं है। वह केवल एक अनजान सातवें आसमान का "हाजिर-नाजिर" मात्र है। उसके गुणों का वर्णन, उसकी मूर्ति की स्थापना आदि मुसलमानी धर्म में स्थान नहीं पाती। इस प्रकार खुदा एक अनजान-सा है। हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि उसमें सब प्रकार के मतों को स्थान है। हमारे यहाँ भी जो मनुष्य भगवान् को निरंजन तथा निर्गुण मान कर उसकी आराधना करना चाहे, कर सकता है। केवल ज्ञान द्वारा, चिंतन द्वारा, अपने मन को शुद्ध करके, मनुष्य बिना किसी भी बाहरी पूजा-पाठ के भगवान् को पा सकता है।

इस प्रकार से हिन्दू धर्म में भी इस बात को पाकर और उसका मुसलमानी धर्म में साम्य देखकर कुछ कवियों ने कविता करनी आरम्भ की। उस कविता में उन्होंने केवल चिंतन तथा आत्म-शुद्धि द्वारा भगवत्-प्राप्ति पर जोर दिया। यही नहीं, उसमें भी केवल ज्ञान को, तर्क को स्थान दिया। इस मत के सबसे बड़े कवि कबीर हुए हैं। उनका चलाया हुआ कबीर-पंथ अब तक चला आता है। उनकी कविता में केवल ज्ञान द्वारा ही भगवान् की प्राप्ति बताई गई है, मूर्ति-पूजा तथा नमाज आदि दोनों का विरोध किया गया है। केवल अपनी शुद्धि और आत्म-जागृति द्वारा भगवान् का मिलना सम्भव बताया गया है। उन्होंने और उनके शिष्यों ने अपने पंथ के समर्थन में कविता की। इस प्रकार निर्गुण पंथ में केवल ज्ञान को स्थान देकर उन्होंने ज्ञानाश्रयी निर्गुण शाखा को चलाया। इस शाखा की भाषा खड़ी मिश्रत कबीर की भाषा ही है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के मुख्य-मुख्य कवि थे:—संत कबीर, गुरु-

वर नानक, दादूदयाल, भक्तवर सुन्दरदास, मलूकदास (जिनका

"अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कहि गये सबके दाता राम ।।"

दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है) तथा कविवर अक्षर अनन्द।

(ख) प्रेम-मार्गी निर्गुण धारा

कबीर के शुष्क ज्ञान से ऊब कर कुछ कवियों ने निर्गुण मत में भी प्रेम को लाने का प्रयत्न किया। इस मत के कवियों की विशेषता यह थी कि वे (१) प्रायः सबके सब मुसलमान थे, (२) सबने अवधी भाषा में कविता की और महाकाव्य लिखे, (३) सबने मुसलमानी सूफी मत को मान कर भारतीय कथाओं को लेकर अपने मत का प्रतिपादन किया।

सूफी मत में भक्त की कल्पना पुरुष की तथा भगवान् (आराध्य) की कल्पना स्त्री की की जाती है। यह मत भी मुसलमानी मत है, किन्तु 'इस्लाम से प्रेम' के विषय में उसका विरोध है। इन सूफी कवियों में सबसे प्रधान हैं मलिक मुहम्मद जायसी। कहा जाता है कि वे सन्त थे और उन्होंने हिन्दू, तथा मुसलमानी धर्म में मेल कराने के लिए ही अपने 'पद्मावत' नामक काव्य को लिखा था। किन्तु प्रेम-मार्गी अन्य कवियों में (जायसी के भी 'कलाम' में) इस्लाम का प्रचार अवश्य है। इन कवियों ने अपने काव्यों में इस्लाम का (अपने सूफी मतानुसार) प्रचार करने का प्रयत्न किया है।

इस मत का भेद कबीर के ज्ञान-मार्ग से केवल इस बात में है कि यह मत कोरे ज्ञान को ही आराधना में स्थान नहीं देता। यद्यपि, यह मत भी निर्गुण पंथ का मानने वाला था किन्तु यह कहता है कि उस निर्गुण निरङ्कार आराध्य को

प्रेम से ही पाया जा सकता है। भगवान् की भावना स्त्री-रूप में करके उसके ऊपर रीझ कर (आशिक होकर) उससे प्रेम किया जा सकता है तथा अनेक कष्ट पाने के बाद उसे पाया जा सकता है। इस मत में योग का समावेश भी सूफियों ने योगियों के प्रभाव से कर लिया था। ज्ञान-मार्ग तथा प्रेम-मार्ग दोनों प्रकार के निर्गुण पंथों में गुरु का बड़ा भारी महत्त्व है। उसके बिना कुछ नहीं हो सकता। कबीर ने तो यहाँ तक कहा है कि—

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, का के लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दिये दिखाय॥"

यही नहीं, भक्ति-मार्ग के सब मतों में, सगुण मत में भी, गुरु का बड़ा महत्त्व रहा है। तुलसी तथा सूर तक ने गुरु की महिमा गाई है। इस शाखा के प्रतिनिधि कवियों के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

कुतबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, शेख नबी, कासिम शाह तथा नूर मुहम्मद।

(२) सगुण शाखा

(ग) राम-मार्गी सगुण शाखा

जिस प्रकार से कबीर, जायसी आदि निर्गुण मत को मानकर आकार तथा गुणहीन भगवान् की आराधना करते थे, उसी प्रकार सूर, तुलसी आदि सगुणवादी भक्त कवि, शुद्ध भारतीय रूप में भगवान् के गुणों तथा उसकी मूर्ति के पूजक थे। निर्गुणवादियों में मुसलमानी विदेशीयता आ जाने के कारण उनका प्रभाव भारतीयों पर इतना न पड़ा जितना कि पुराण-सम्मत सगुणवादियों का। किन्तु इससे

यह नहीं समझना चाहिये कि निर्गुणियों ने भक्ति-काल के विकास में योग ही नहीं दिया। मुसलमानी राज्य में उन्होंने उनके धर्म से मिलता-जुलता मत चला कर प्रजा के हृदय में भक्ति की भावना का उदय किया। बिना उस भावना के आगे सगुण कवियों के प्रयास भी सफल होते अथवा नहीं, यह संदिग्ध ही है। सगुण का प्रचार उस समय मुसलमान न करने देते, अतः उस समय निर्गुण का प्रचार ही पर्याप्त था। उनकी जलाई हुई ज्वाला को ही सगुणियों ने आगे बढ़ाया।

सगुण भक्ति में भी दो भेद हो गये। भारतवर्ष तथा हिन्दू धर्म मतवैचित्र्य के लिए प्रसिद्ध हैं ही। सगुणवादियों में एक दल ने राम-भक्ति को अपना ध्येय बनाया। राम-कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार हैं, किन्तु दोनों के चरित्रों में भेद है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा बड़े गम्भीर और आदर्श पुरुष थे। कृष्ण भी आदर्श पुरुष थे किन्तु उनका आदर्श कुछ भिन्न था। वे आनन्द के भक्त तथा बड़े मौजी थे। इस प्रकृति तथा चरित्र की भिन्नता के कारण उनके भक्तों में भी भेद हो गया। तुलसी आदि कवियों ने राम को अपना आराध्य माना। राम तथा कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार हैं, अतः राम तथा कृष्ण में विरोध हो ही नहीं सकता; फिर उनके भक्तों में कैसे होगा। राम-मार्गी तथा कृष्ण-मार्गी कवियों में यद्यपि विरोध न था फिर भी उन्होंने केवल अपने आराध्य की एकान्त आराधना की है और इस कारण दो मत साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं।

राम-भक्त तुलसी ने राम में उनके चरित्र के अनुसार देश, जाति तथा संसार के कल्याण की भावना का प्रदर्शन किया

है, उनमें विलास का नाम तक नहीं आने दिया ; धर्म के रक्षक तथा मर्यादा के पालक का रूप उन्हें दिया है। कृष्ण-मार्गियों ने कृष्ण को प्रत्येक प्रकार की मर्यादा का भंग करने वाले के रूप में रक्खा है तथा उनके जीवन के केवल आनन्द पक्ष को लिया है। इसी भेद के कारण कृष्ण-भक्त कवि बड़े ही आनन्दी तथा राम-भक्त कवि बड़े ही कट्टर धार्मिक हुए हैं। राम की भावना तुलसी जैसे कवियों ने स्वामी के रूप में की है और इस स्वामी की सर्व प्रकार सेवा अपना धर्म माना है। कृष्ण-भक्त कवियों ने इसके विपरीत कृष्ण को सखा तक माना है। राम तथा कृष्ण के भक्तों की भावना में जो भेद है तथा उसके कारण उनके आराध्य के रूप में जो भेद आ गया है, वह दर्शनीय है। इस शाखा के कवियों की भाषा अधिकतर अवधी है।

राम-भक्त कवियों में निम्न कवियों के नाम मुख्य हैं :— भक्त-प्रवर महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी, स्वामी अग्रदास, भक्तवर नाभादासजी, प्राणचन्द चौहान तथा हृदयरामजी।

(ग) कृष्ण-मार्गी सगुण धारा

इसका वर्णन हम राम-भक्त-शाखा के साथ तुलना के रूप में पीछे कर आये हैं। इन दोनों शाखाओं का भेद इतना कम है तथा सम्बन्ध इतना अधिक है कि दोनों को बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता।

भाषा के विषय में ही दोनों में भेद है। राम-मार्गी कवियों से चलकर कृष्ण-मार्गी कवियों तक आते-आते काव्य की भाषा व्रज हो गई। व्रजभाषा के उत्थान का श्रेय कृष्ण-भक्त कवियों को ही है। सूर ने व्रज भाषा को जितना सुधारा है उतना किसी

भी कवि ने नहीं। कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा बना दिया।

कृष्ण-मत के कवियों ने प्रेम तथा आनन्द को अपना ध्येय बनाया। अतः उनकी कविता में प्रेम के वियोग तथा संयोग दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन है। मर्यादा भंग करने की एक प्रथा इनमें चल गई थी। कृष्ण-भक्त कवियों में अधिकतर वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग को मानने वाले थे। इस मार्ग के "अष्टछाप' के कवियों ने जितना कृष्ण-भक्ति-धारा को उन्नत किया तना और किसी ने नहीं। इस मत में बड़े-बड़े कवि हो गये हैं और उन कवियों में शिरोमणि थे कवि-कुल-शिरोमणि भक्तराज सूरदास।

भक्ति-काल के अंत होते-होते कवियों में एक विशेष प्रकार की भावना का आधिक्य होता जाता था। इतने दिनों तक भक्ति की कविता करने के बाद कवियों का मन शृङ्गार की ओर लगने लगा था। भक्ति-काल के अंत में कृष्ण-काव्य जोरों पर था, और उसमें आनन्द को अधिक स्थान था। इसी आनन्द की भावना ने आगे चल कर रीति-काल को जन्म दिया। कृष्ण-भक्त कवियों में निम्न उल्लेखनीय हैं :—

भक्त कवि सूरदासजी, कुम्भनदासजी, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास, नन्ददास (अष्टछाप), तथा हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, स्वामी हरिदास (तानसेन के गुरु), सूरदास मदनमोहन, श्री भट्ट, रसखान, हितवृन्दावनदास तथा ध्रुवदास जी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, हिन्दी में कवियों की संख्या बढ़ती गई, यह उपर्युक्त नामों की सूची से विदित होगा। उपर्युक्त तथा अन्यस्थ दिये हुए कवियों के अतिरिक्त भक्ति-काल के अन्य कवियों में

प्रमुख थे :—कृष्णदास, नरहरि बन्दीजन, नरोत्तमदास, आलम, टोडरमल, बीरबल, कविवर गग, जमाल, महाकवि केशवदास, रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना), कविवर पृथ्वी-राज (जिन्होंने अकबर के दरबार से महाराणा प्रताप को पत्र लिखा था) तथा कवि सुन्दर।

रीति-काल

(सं० १७०० से १६००)

भक्ति-काल में कविगण अपनी कविताओं में भावों को व्यक्त करने की ओर अधिक ध्यान दिया करते थे, और उनकी कविता में सुन्दर-सुन्दर भावों के अतिरिक्त सरल भाषा हुआ करती थी। भक्ति-काल से पहले हमारे साहित्य में नहीं के बराबर ग्रन्थ थे, अतः भक्ति-काल में कवियों का ध्यान कविता करने की ओर रहा। उन्होंने आरंभ में भाषा की ओर भी ध्यान न दिया। जैसे कविता बढ़ने लगी कवियों ने उसकी भाषा की गठन आदि की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया, यहाँ तक कि भक्ति-काल के अन्त के समय भाषा अत्यन्त प्रौढ़ तथा मार्जित हो गई थी। भाषा के सुधार के उपरान्त कवियों का ध्यान अलंकारों आदि की ओर जाया करता है। भक्ति-काल में कविता में अलंकारों का प्रयोग भी होने लगा था, उसमें भावों के समान ही सुन्दर भाषा तथा उसके अनुरूप ही अलंकारों का प्रयोग होता था।

कविता में भावों तथा विचारों का प्राधान्य होना चाहिये और भक्ति-युग में वह था। किन्तु काल के समाप्त होते-होते कवियों में यह प्रवृत्ति बढ़ती जाती थी कि वे कविता में अलंकारादि वाह्य उपकरण अधिक रक्खें। भक्ति-काल के समाप्ति-काल में ही कृष्ण-भक्त कवियों में यह परिपाटी-सी

चल गई थी। इसके साथ ही साथ कृष्ण-भक्त कवियों ने फुटकर गीतादि लिखने आरम्भ कर दिये। उन्होंने तुलसी या जायसी के सामान प्रवन्ध काव्यों का लिखना बन्द कर दिया था। भक्ति-काल की समाप्ति के समय फुटकर कविता का वोल-वाला था।

जिस प्रकार भक्ति-काल में भक्ति के भावों का तथा मत विशेष के विचारों का प्राधान्य कविता में हुआ करता था, वाह्य आडम्वर कविता में कम हुआ करते थे; उसी प्रकार रीति-काल में कविता में वाह्य आडम्वरों का आधिक्य-सा होने लगा। रीति-काल के आरम्भ होने के समय तक हिन्दी-साहित्य पर्याप्त परिमाण में समृद्धिशाली हो गया था। भक्ति-काल में कवियों को भावों को खोजने नहीं जाना पड़ता था। जो कुछ वे लिखते थे नया ही हुआ करता था। अव रीति-काल में कवियों ने नूतन विचारों तथा भावों की खोज में संस्कृत-साहित्य की ओर दृष्टि डाली—संस्कृत-साहित्य के भी उस भाग पर जिसमें कि रीति का वाहुल्य था। रूढ़ि तथा रीति से जकड़ जाने के कारण वह साहित्य रीति-वद्ध-सा हो गया। संस्कृत-साहित्य के उस अंश के कवियों ने प्रायः सबने ही, रीति-ग्रन्थ लिखे थे। उन ग्रन्थों मे कविता करने की रीति, अलंकार तथा काव्य-'कानून' थे। उस साहित्य से प्रभावित होकर हिन्दी के कवियों ने भी रीति-ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया, तथा अपनी कविता में अलंकारों और कविता के नियमों को अधिक स्थान देना आरम्भ किया। इस प्रकार से उस समय की कविता एक प्रकार की रीति के अनुसार चलने लगी। इस रीति के अनुसरण के कारण ही इस काल का नाम 'रीति-काल' पड़ा।

इस समय के अधिकांश कवियों ने एक विशेष रीति बद्ध पद्धति का अनुगमन किया और उस पद्धति से विद्रोह करने का साहस किसी को भी न हुआ, सब उसी प्रवाह मे बहते चले गये। कविता में अलंकारों का आधिक्य होने लगा। कविता में भावों की प्रधानता तथा अन्य उपकरणों की गौणता अपेक्षित है। भक्ति-काल में ऐसा ही थ, किन्तु रीति-काल ने इसका उलटा हो गया। यही इन दोनों कालों का भेद तथा उनकी विशेषता है। भावों में भी केवल शृङ्गार का वर्णन हुआ। अधिकांश क्या प्राय: सभी कवियों ने शृंगार रस का ही वर्णन किया; एक-आध (भूषण के समान) कवि ने अवश्य वीर रस की कविता की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-काल के कवियों में भावों तथा विचारों - यहाँ तक कि अलंकारों तक में एकरूपता दिखाई पड़ती है।

भक्ति-काल में ब्रज तथा अवधी का और कुछ कबीर-समान कवियों द्वारा खिचड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है, किन्तु रीति काल में यह बात न थी। इस काल में अधिकांश कवियों ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया तथा उसके प्रयोग में भी अपनी विशेषता परिलक्षित की। भक्ति-काल में अवधी भाषा का निखार ही नहीं हुआ वरन् ब्रजभाषा को भी काव्य मे स्थान मिलने लगा। चूँकि भक्ति-काल के अन्त में कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने फुटकर पदों में ब्रज का प्रयोग किया था तथा अपनी कविता में शृंगार और अलंकारों का प्रेम दिखाया था, अत: रीति-काल के कवियों ने उन्हीं का अनुगमन किया। रीति-काल ब्रजभाषा का स्वर्ण-युग था। कुछ विद्वानों का मत है कि इस समय भावों तथा विचारों की भाँति भाषा भी रीति में जकड़ गई थी और उसके विकास के मार्ग का अवरोध हो

गया था। किसी सीमा तक यह कथन संगत भी है, परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि भारतेन्दु को जो मँजी हुई ब्रजभाषा मिली थी वह इन्हीं कवियों के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप थी। रीति-काल के शृंगारी कवियों ने ब्रजभाषा को इसलिए भी चुना था कि इसमे लालित्य अधिक है। भक्ति-काल के समान रीति-काल मे कोई मान्य प्रबन्ध-काव्य भी नहीं लिखा गया, फुटकर रचना इस काल की सामान्य प्रवृत्ति थी। प्रबन्ध-काव्यों के लिए अवधी ही अधिक उपयुक्त थी और फुटकर रचना करने वालों ने इसी कारण ब्रजभाषा को चुना। रीति-काल ही को ब्रजभाषा को भारतवर्ष की कुछ समय के लिए काव्य-भाषा बनाने का श्रेय है। इस समय मे ब्रज का बोल-बाला गुजरात से लेकर बंगाल की सीमा तक था।

हम पीछे कह आये हैं कि रीति-काल में केवल शृंगार रस की ही रचना अधिक हुई। उसका कारण था। उस समय तक भारत में मुसलमानी शासक अच्छी तरह से अपने पैर जमा चुके थे, उन्होंने भोग-विलास की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार उस समय के लोग भी विलासी थे। छोटे-छोटे राजाओं ने अपने दरबारों में कवियों को आश्रय दिया और उन कवियों का काम केवल उन राजाओं की शृंगार-वृत्ति को जाग्रत करना रह गया था—ऐसा मत विद्वानों का है। हम इसमें कवियों का दोष इतना नहीं देखते। जब स्वयं लोगों का चरित्र ही वैसा था तब कवि तो अपने युग का प्रतिनिधि होता है। यह कहा जा सकता है कि उच्च कवि युग-निर्माता भी होते है। उसके उत्तर मे केवल यही कहा जा सकता है कि

यदि हम सद्भावना से रीति-कालीन कवियों को देखें तो पावेंगे कि उनमें कुछ युग-निर्माता भी थे।

भक्ति-काल में तुलसी, जायसी आदि ने दोहे-चौपाइयों में प्रबन्ध काव्य लिखे। अन्य कवियों ने तथा तुलसी ने भी गीत, कवित्त आदि लिखे थे। रीति-काल में प्रबन्ध-काव्यों का अभाव-सा था—कवि फुटकर छन्द लिखा करते थे। और चूँकि एक छन्द के बन्ध पर कवि रात-रात भर जाग कर विता देता था अतः छन्दों का मार्जन रीति-काल में खूब हुआ। यह कहा जा सकता है, रीति-काल में नये-नये छन्द बनाने का साहस किसी कवि ने नहीं दिखाया; किन्तु जब पुराने छन्दों में ही दोष थे तब नये छन्दों की सृष्टि अपेक्षित ही नहीं थी। रीति-कालीन कवियों ने पुराने छन्दों में ही कविता की, रीति के अनुसार ही उन्होंने छन्दों का प्रयोग किया, किन्तु एक-एक कवि ने एक-एक छन्द को अपना प्रिय छन्द बनाकर उसे उसकी चरम सीमा की उन्नति तक पहुँचा दिया। जैसे विहारी ने दोहों को अपनाया था, और अब तक बिहारी के से चुस्त तथा गठे हुए दोहे कोई नहीं लिख सका। भक्ति-काल में छन्दों के प्रयोग दोषपूर्ण भी हुआ करते थे। जायसी मे तो दोहे-चौपाई तक अशुद्ध हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं तुलसी, सूर में भी हम दोष खोज सकते हैं। किन्तु सामान्यतया रीति-काल के कवियों ने इस प्रकार के दोष नहीं किए।

रीति काल में जितने भी कवि थे सब ने ही रीति-ग्रन्थ लिखे थे। उस समय कोई कवि तब तक कवि ही नहीं माना जाता था जब तक कि वह कोई लक्षण-ग्रन्थ न लिख लेता था। अतः उस समय कवि के लिए केवल कविता करना ही पर्याप्त न था वरन् उसे आचार्य भी होना पड़ता था। इस

'होने पड़ने' के कारण ही अधकचरे कवि आचार्य बन बैठे तथा अधकचरे आचार्य कवि बनने का प्रयत्न करने लगे थे। इसी दोष के कारण रीति-काल में कविता की स्वतन्त्र गति अवरुद्ध हो गई थी।

भक्ति-काल में प्रकृति के प्रति संतों का प्रेम था। वे प्रायः क्या सर्वदा ही नगरों से दूर रहते थे—रहते न थे, तो जाया अवश्य करते थे। किन्तु रीति-काल में कवियों का क्षेत्र केवल नगर तथा राज-दरबार ही रह गया, उनका प्रकृति से संबन्ध-विच्छेद हो गया और वे उससे दूर होकर केवल दरबारों, महलों और कटे-छटे बागों मे घूमने लगे। भक्ति-काल में भी यद्यपि प्रकृति का वर्णन अत्यन्त अधिक नहीं हुआ है, फिर भी जहाँ हुआ है वहाँ सुन्दर है। रीति-काल में कवियों ने प्रकृति को भी रीति-युक्त कर दिया, उसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं किया। जहाँ प्रकृति को वे लाये वहाँ भी वह केवल शृंङ्गार में सहायक होकर ही आई है।

इस प्रकार से हम देखते हैं, रीति-काल में कविता की प्रकृति, उसकी आत्मा तथा उसका बाह्य आवरण तक भक्ति-काल से भिन्न हो गया। कृष्ण-भक्ति के नाम पर बहुत से कवियों ने अत्यन्त अश्लील कविताएँ करना आरम्भ किया। उनका क्षेत्र इतना संकुचित हो गया था कि उनके समय में ही मुसलमानों से अँग्रेजों ने राज्य ले लिया, अत्याचार भी किए, किन्तु उसका किंचित्मात्र उल्लेख उन्होंने नहीं किया। सामान्य मनुष्य को छोड़ कर कविता केवल रईसों के ऊपर ही होने लगी, और जहाँ सच्ची भावयुक्त कविता न भी थी, वहाँ कृष्ण को लाकर उसमें भक्ति का समावेश करना चाहा। 'रद्दी कवियों ने भद्दी उक्तियों से धर्म पर कलुष लगाया और

अपने विलास को भगवान् पर मढ़ना चाहा। शृंगार में भी नायिका-नायक-भेद को इतना घुसेड़ा कि कविता कहीं दुरूह हो उठी।

इस काल के प्रतिनिधि कवि हैं :—चिंतामणि, मतिराम, भूषण, विहारी, देव, भिखारीदास पद्माकर, घनानन्द, बोधा, लाल तथा ठाकुर आदि। प्रतिनिधि कवियों का विशेष वर्णन काल-विभाग से युक्त आगे करेंगे।

प्रतिनिधि कवियों के अतिरिक्त निम्न लिखित कवियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं :—

बेनी, महाराज जसवंतसिंह, मंडन, कुलपति मिश्र, कालिदास त्रिवेदी, नेवाज, सूरति मिश्र, अली मुहिबखाँ (प्रीतम) भूपति, तोषनिधि, सोमनाथ, रसलीन, दूलह, थान कवि, बेनी बन्दीजन (हास्यरस), बेनी प्रवीन, यशोदानन्दन, ग्वाल कवि, प्रतापसिंह, वृन्द, आलम, गुरु गोविंदसिंह, रसनिधि, नागरीदास, चाचा हितवृन्दावनदास, गिरधर कविराय, रसिक, गुमान मिश्र, सूदन, चन्द्रशेखर, पजनेस, गिरिधरदास (भारतेन्दुजी के पिता) तथा द्विज देव।

रीति-काल के ह्रास के समय तथा इससे कुछ पूर्व भक्ति-काल में भी गद्यलेखन की ओर प्रयास हुए थे।

आधुनिक-काल

(सं० १६०० से अब तक)

रीति-काल का अन्त होते-होते हिन्दी-कविता भाषा, विचार, भाव तथा अलंकारों और छन्दों में जकड़-सी गई, और ये सब काव्य के उपकरण भी एक बँधी हुई रीति के

अनुसार चलने के कारण विकासहीन हो गये। सब कवि उन्हीं पुराने भावों तथा उक्तियों का पिष्टपेषण करते थे, कारण यह था कि, जब एक ही रस के ऊपर २०० वर्ष तक कविता होती रहेगी तो नवीनता कहाँ से आवेगी। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो कुछ भी भला-बुरा शृंगार में हो सकता है उस सब का वर्णन रीति-कालीन कवियों ने कर दिया था—किसी के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं। यहाँ तक कि आधुनिक कवि भी शृंगार के अधिकतर भावों को उन्हीं से लेते हैं, यद्यपि व्यक्त करने की पद्धति उनसे एकदम भिन्न है।

आधुनिक काल के आरम्भ होने तक देश में अँग्रेजी राज्य की जड़ें अच्छी तरह से जम चुकी थीं। मुसलमानी अत्याचारों के बाद अँग्रेजी राज्य को देशवासियों ने आरम्भ में भगवान् का वरदान समझा और वे प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे। किन्तु कुछ समय बाद ही उनकी आँखे खुल गईं। तवे से उतर कर चूल्हे में आने पर जो सुख मिल सकता है, वही हमारे देशवासियों को मिला। विद्वान् कहा करते थे कि हिन्दी में आधुनिक काल तथा उसकी उन्नति का श्रेय अँग्रेजों को है, क्योंकि उन्होंने देश में तार-रेल द्वारा तथा अँग्रेजी शिक्षा द्वारा जागृति उत्पन्न की। कहा जाता था कि अँगरेजों ने अँगरेजी साहित्य से भारतवासियों का परिचय करा कर उन्हें जाग्रत किया क्योंकि अँगरेजी साहित्य में स्वतन्त्रता की भावना अधिक है। इसके उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि कोई भी शासक अपने दासों को मुक्त करने का जितना इच्छुक हो सकता है उतने ही अँगरेज भी थे। यदि वे देश में जागृति ही उत्पन्न करना चाहते; यदि वे भारत के शुभ-

चिंतक होते तो, क्यों सं० १८५७ में विद्रोह होता ? उस विद्रोह के आस-पास ही हमारे हिन्दी-काव्य का आधुनिक युग आरम्भ होता है। अतः हम देखते हैं कि हमारे इस काल के साहित्य में शासकों के प्रति विद्रोह, देश के प्रति प्रेम तथा देशवासियों के जागरण की इच्छा कूट-कूट कर भरी है।

आधुनिक काल के आरम्भ के समय हमारे देश की धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाएँ अत्यन्त शोचनीय थीं। ईसाई धर्म का प्रचार पादरी लोग शाशकों की अनुमति से खूब जोर-शोर से कर रहे थे, सहस्रों की संख्या में भोले-भाले हिन्दुओं को खाने-कपड़े का लोभ-देकर वे ईसाई बना रहे थे। स्वयं हिन्दू अपने धर्म को हेय समझने लगे थे। धर्म में समय के प्रभाव से अनेक कुरीतियाँ आ गईं थीं जो हमें अन्य धर्मों के सामने लज्जित करती थीं। देश में अन्य जाति का राज्य था—उनके अत्याचार बढ़ते जाते थे; गदर में उन्होंने कैसे-कैसे जुल्म ढाये, सब जानते हैं। नाना साहब की बेटी मैना को खम्भे से बाँध कर जीवित जला दिया गया; सैकड़ों की संख्या में निरीह मनुष्यों को तोपों से उड़वा दिया गया; माँ-बहनों की लज्जा तथा सतीत्व का अपहरण किया गया। इन सब बातों को देख कर देश के साहित्यिक क्षुब्ध हो उठे थे। देश का धन, कर तथा लूट के रूप में विदेश को ढोया जा रहा था। 'सोने की चिड़िया' समझ कर भारत के पर नोंचे जा रहे थे और देश बाज के चंगुल में तड़प रहा था। समाज में अनेकानेक अनाचार तथा नैतिक पतनकारी कुरीतियाँ प्रचलित थीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह आदि के कारण कन्याओं का

जीवन नरक समान हो रहा था। हमारे देश के साहित्यिक, जो अब तक शृंगार में ऊब-डूब हो रहे थे, जगे—और जगते कब तक न ? रुई भी दबते-दबते अन्त में पाषाण के समान कठोर हो जाती है। आधुनिक काल के कवियों ने देश की स्थिति में सुधार करने का, देश में जागरण की भावना फैलाने का, देशवासियों में आत्म-सम्मान की भावना जगाने का बीड़ा उठाया, और वे सफल हुए।

देश की इस पतनावस्था को देखकर कवियों ने सुधार का बीड़ा उठाया। कविता में विचारों तथा भावनाओं का बाहुल्य होने लगा, उसमें से बाह्य आडम्बर उड़ गया। जब कहना अधिक हो और समय कम हो तब अलंकारों और छंदों की ओर ध्यान नहीं जाता। आधुनिक काल के काव्य की यही विशेषता रही। आधुनिक काल के भी हम भाग कर सकते हैं, यथा (१) भारतेन्दु-युग (२) द्विवेदी-युग (३) प्रसाद-युग। इन तीन खण्डों में इसका विभाजन करके हम इसका अध्ययन करेंगे।

(१) भारतेन्दु-युग

(सं० १९०७ से १९५७ तक)

भारतेन्दु-काल में कविता के रूप को बदलने का श्रेय स्वयं भारतेन्दुजी को ही है, और इसी कारण इस युग का नाम भारतेन्दु-युग पड़ा है। इस समय तक कविता में केवल शृंगार की ही भावना थी किन्तु भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की प्रेरणा से कविता में देश-भक्ति, समाज सुधार, स्त्री-शिक्षा, अपने धर्म की रक्षा आदि की भावनाएँ आने लगीं। स्वामी दयानन्द के आन्दोलन ने उसमें और भी योग दिया।

अब तक का काव्य रईसों तथा बड़े आदमियों के लिये हुआ करता था, किन्तु इस युग में साधारण जन—किसान, गरीब, दुःखी—का स्वार्थ भी काव्य मे आने लगा। यही नहीं, भारतेन्दुजी ने स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन की ओर भी ध्यान दिया, अतः प्रकृति भी अछूती न बची। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शृङ्गार की कविता एकदम बन्द हो गई। नहीं, भारतेन्दुजी ने स्वयं कृष्ण-काव्य किया और शृङ्गार के बड़े रसीले छन्द लिखे।

इस काल की विशेषता केवल भावों तथा विचारों को दूसरी ओर मोड़ने में है। किन्तु यह कार्य इतना बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण है कि इसी के ऊपर देश का भविष्य स्थिर रहा करता है। इस काल में भाषा को स्थिरता अवश्य मिली, किन्तु भाषा बदली न गई। ब्रजभाषा का प्राचीन रूप छोड़ कर उसका सरल स्वाभाविक रूप प्रयोग में लाया जाने लगा। प्राचीन शब्द जो कि साधारण लोगों की समझ में ही न आते थे, छोड़ दिये गये। छन्दों के विषय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ; हाँ, भारतेन्दु-युग के समाप्त होने के समय ही खड़ी बोली में कविता करने का आन्दोलन उठ पड़ा था। अलंकारों आदि का प्राचीन प्रयोग चला आता था तथा भावाभिव्यक्ति की पद्धति भी प्राचीन थी। इस प्रकार देश के काव्य का हृदय तो परिवर्तित कर दिया गया था, उसमें नूतन जागरण की भावना भर दी गई, किन्तु उसका बाह्य प्राचीन ही था। हाँ, वह प्राचीन भी मलिन न था, उसमें स्वच्छता तथा सरलता आ गई थी। इसी हृदय-परिवर्तन ने देश तथा साहित्य के आगे के इतिहास को बनाया। यही इस काल का महत्त्व है; इसने आगे की कविता की नींव रक्खी।

इस काल के कवियों में मुख्य थे :—श्रीमान् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा लक्ष्मणसिंह, सेवक, रघुराजसिंह रीवाँ-नरेश, सरदार, बाबा रघुनाथ रामसनेही, ललित किशोरी, लछिराम (ब्रह्म भट्ट), नवनीत, प्रेमघन तथा प्रतापनारायण मिश्र।

(२) द्विवेदी-युग

(सं० १९५७ से १९८२ तक)

हम पीछे कह आये हैं, भाषा में सुधार भारतेन्दु-युग से आरम्भ हो गया था तथा खड़ी बोली का आन्दोलन भी चल पड़ा था। द्विवेदी-युग में महावीरप्रसादजी द्विवेदी के प्रयत्न से भाषा को स्थिरता मिली। ब्रजभाषा जो कि अब तक हिन्दी-साहित्य की पटरानी थी, खड़ी बोली से द्वन्द्व में हार गई। काव्य-भाषा साधारण रूप से खड़ी बोली हो गई, यद्यपि ब्रजभाषा में भी कविता होती थी। प्रत्येक कवि इस काल के आरम्भ में ब्रज में कविता करता था, किन्तु आगे चलकर खड़ी बोली को अपना लेता था। छन्दों के विषय में भी नवीनता आने लगी। उर्दू तथा अँगरेजी के समान छन्दों की रचना होनी आरम्भ हुई। यद्यपि छन्द नूतन तो कम बने किन्तु कार्यारम्भ हो गया था। इस युग की विशेषता थी कि इस भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की गई और भाषा खड़ी बोली हो गई। भावों के विषय में विशेष परिवर्तन न हुआ, हाँ विदेशी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट था। काँग्रेस का जोर होने के कारण देश-भक्ति की कविताओं की बाढ़-सी आ गई।

इस युग के प्रधान कवि हैं :—श्रीधर पाठक, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय

'हरिऔध', जगन्नाथदास रत्नाकर, सरयूप्रसाद मिश्र, पं० रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर', लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय तथा पंडित सत्य नारायण कविरत्न।

(३) प्रसाद युग

(सं० १९८२ से अब तक)

भारतेन्दु युग में भाव बदले, द्विवेदी युग में भाषा बदली और प्रसाद युग में भावाभिव्यक्ति की पद्धति भी बदल गई, जिसका कारण अधिकतर बंगाली तथा अँगरेजी प्रभाव था। इस प्रकार हिन्दी भाषा का स्वरूप ही बदल गया। रहस्य-वाद, छायावाद, अभिव्यंजनावाद आदि 'वादों' का आगमन हुआ प्रगतिवाद के कारण कविता सामान्य गद्य-सी होने लगी; छंदों में नूतनता आने लगी; तुक का भी स्थान जाता रहा; अतुकान्त कविता होने लगी। इस में सबसे अधिक कार्य प्रसादजी ने किया—वे ही इस युग के निर्माता माने जाते हैं। इस प्रकार यदि हम इस युग की कविता को रीति-काल के अंत समय की कविता से मिलाएँ तो बड़ा भारी परिवर्तन देखने को मिलेगा। द्विवेदी-युग में थोड़े बहुत महा-काव्य लिखे गये तथा प्रसाद-युग में भी कुछ प्रबन्ध काव्य लिखे गये, किन्तु काल की प्रवृत्ति, विशेषतया आजकल, फुटकर कविता की ओर ही है, और विडम्बना यह है कि रीति-काल की प्रवृत्ति भी यही थी। संसार-चक्र ऐसे ही चलता है।

इस युग में अनेकानेक कवि हुए हैं; निम्न उल्लेखनीय हैं:—जय शंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्द पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी

'निराला', महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, मोहनलाल महतो 'वियोगी', भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल,' माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिवंशराय 'बच्चन', रामधारीसिंह 'दिनकर', गोपालशरणसिंह 'नेपाली', ठाकुर गुरुभक्तसिंह, हरिशंकर शर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि।

गद्य का विकास

हिन्दी में गद्य के चिह्न हम सं० १२०० तक खोज सकते हैं। अन्य भाषाओं के समान हिन्दी में भी गद्य का आविर्भाव पद्य के बाद ही हुआ है। आरंभ में हिन्दी में गद्य भी बड़ा ही अव्यवस्थित तथा खिचड़ी था। सब से प्रथम रूप हिन्दी गद्य का हमें दान-पत्रों आदि में मिलता है। उसके बाद छुट-पुट प्रयत्न होते रहे। आगे चलकर 'वैष्णवों की वार्ताओं' का रूप सामने आता है। इसमें व्रज का प्रयोग है, और व्रज-भाषा के प्रयोग में भी स्थिरता नहीं है। रीति-काल में से होकर आधुनिक काल-तक आते-आते गद्य का स्वरूप स्पष्ट होने लगा और भारतेन्दु-युग में गद्य का स्वरूप निश्चित हो गया। गद्य की भाषा खड़ी बोली मान ली गई जो कि अब तक चली आती है। गद्य के विकास में उसका क्रमिक रूप तथा आविर्भाव के स्पष्ट लक्षण हमें सं० १८०० के लगभग मिलते हैं। गद्य के विकास के अध्ययन तथा उसके क्रमिक रूप को सरलता से समझने के लिए उसके काल बना लेना उचित है। अतः हम उसे चार कालों में विभाजित करते हैं:—

(१) आविर्भाव काल सं० १८०० से १९२५ तक,
(२) भारतेन्दु-काल सं० १९२५ से १९५५ तक,

(३) द्विवेदी-काल सं० १६५५ से १६८२ तक,

(४) आधुनिक काल सं० १६८२ से अब तक ।

आविर्भाव काल

इस काल में हिन्दी गद्य ने जन्म धारण किया तथा अपने स्वरूप को निश्चित किया। किसी भी विकासोन्मुख शक्ति की राह में जो रोड़े आ सकते हैं वे सब हिन्दी विरोध में उठ खड़े हुए। अँगरेजों की अँगरेजी, मुसलमानों की उर्दू तथा अँगरेजों के कतिपय दासों की उर्दू-बहुला मिश्रित भाषा, इन तीनों से इस काल के हिन्दी गद्य को युद्ध करना पड़ा और अपने समर्थकों की दृढ़ता की सहायता से विजयी हुआ। हिन्दी के उदय के साथ-साथ गद्य का उदय हुआ और जन-साधारण तक गद्य द्वारा स्वतंत्रता की भावनाएँ पहुँचने लगीं। लोगों के हृदय में शासकों के प्रति असंतोष लहरें लेने लगा और हिन्दी गद्य भाषा-क्षेत्र में शासकों के नाक का बाल हो गया। यह कहा जाता है, अँगरेजों ने कलकत्ते के कालिज में हिन्दी गद्य को जन्म दिया, किन्तु यह सब कोरा प्रचार है। अँग्रेजों ने तो राज्य करने के लिए मुंशी बनाने चाहे थे, और उन्होंने तो राजभाषा अँगरेजी अथवा उर्दू बनानी चाही थी। इस आविर्भाव के युग में राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी का पक्ष लेकर कार्य किया और राजा शिवप्रसाद ने मिश्रित भाषा का प्रचार करना चाहा जो कि सफल न हो सका। इस समय में ग्रन्थों की रचना अधिक न हो सकी किन्तु फिर भी जो लिखा गया उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी के गद्य के जन्म के विषय में मुंशी सदासुखलाल,

सदल मिश्र, लल्लूजी लाल तथा इंशाअल्लाखाँ के नाम सदैव स्मरणीय रहेंगे। यद्यपि इनकी भाषा आज की गद्य-भाषा से भिन्न है फिर भी इन्होंने आरम्भ करने में सहायता की और इन्हीं की उगाई बेल को राजा लक्ष्मणसिंह ने सींचा।

गद्य का जन्म हो गया और अब उसमें परिष्कार तथा सुधार का प्रश्न सामने आया। स्वामी दयानन्द के प्रचार ने हिन्दी को देशव्यापी गौरव प्रदान किया। भाषा में शुद्धता के आन्दोलन को आरम्भ करके यह काल समाप्त हो जाता है। इस शुद्धता के कार्य को आगे चलकर भारतेन्दु-युग में भारतेन्दुजी ने सँभाला।

भारतेन्दु-काल

(सं० १६२५ से १६५५ तक)

आविर्भाव काल में गद्य के रूप थे:—शिवप्रसाद का उर्दू-बहुल, लक्ष्मणसिंह का संस्कृत-बहुल तथा लल्लूजी व उनके साथियों का प्रारंभ का रूप। प्रारंभिक रूप को अपनाने का तो प्रश्न ही नहीं उठा, और लक्ष्मणसिंहजी का शुद्ध रूप स्वीकृत हो गया। किन्तु उसकी दुरूहता को देखते हुए भारतेन्दुजी ने उसके स्वरूप को और अधिक स्थिर बनाने के लिए उसमें उर्दू के अत्यन्त प्रचलित शब्दों का समावेश किया। हम कह सकते हैं कि भारतेन्दुजी द्वारा निर्धारित गद्य ने ही हिन्दी के वर्तमान को बनाया, और वही नियम तथा रूप अब तक चला आता है। भारतेन्दुजी तथा उनके साथियों ने इसी रूप को चलाया यद्यपि एक-आधा लेखक अब तक संस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग करता था। प्रताप-नारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, श्रीनिवासदास, प्रभृति लेखकों ने हिन्दी-गद्य को आगे बढ़ाया।

भारतेन्दुजी ने हिन्दी में समाचार-पत्रों का प्रकाशन कर तथा करवा कर गद्य का प्रचार किया। इस गद्य के प्रचार ने लोगों में हिन्दी-गद्य के प्रति प्रेम उत्पन्न किया तथा उन्हें लिखने की प्रेरणा दी। भारतेन्दुजी ने अनुवाद कराये तथा स्वयं लिखा, केवल स्वयं ही नहीं लिखा वरन् औरों से लिखवाया भी। उनका महत्त्व इसी कारण है कि उन्होंने अपने को मिटा कर, अपने धन को स्वाहा करके हिन्दी को जीवन दान दिया।

उपन्यास लिखने की ओर भी इस समय प्रयत्न किये गए। भारतेन्दुजी ने अनेक नाटक लिखे और हिन्दी-गद्य को समृद्धि प्रदान की। नये-नये विषयों पर लेख तथा पुस्तकें छपने लगीं। प्रेस की सुविधा के कारण गद्य का प्रचार बढ़ा। इस प्रकार हिन्दी-गद्य के रूप को स्थिर करने में इस काल का महत्त्व है। भाषा का रूप स्थिर हो गया किन्तु अभी शैली का प्रश्न सामने था।

द्विवेदी-काल

(सं० १९५५ से १९८२ तक)

गद्य के रूप की प्रतिष्ठा भारतेन्दुजी के समय में हो गई थी और वही रूप अब भी चला आता है। किन्तु उस समय तक लेखन शैली का निर्णय न हो सका था। उर्दू, अँग्रेजी, बँगला तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की शैली के समावेश के कारण हिन्दी गद्य की अवस्था बड़ी अस्थिर थी। इसी समय श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म हुआ। उन्होंने इस कार्य को निभाया। भाषा में जो व्याकरण के दोष रह गये थे, भावाभिव्यंजना में जो कृत्रिमता रह गई थी, शैली मे जो दोप रह

गये थे, उन्हें सतत आन्दोलन करके द्विवेदीजी ने दूर किया। 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में उन्होंने अपना सब समय हिन्दी-गद्य के सुधार में लगाया।

हिन्दी गद्य अभी तक विवेचनात्मक तथा गम्भीर विषयों के योग्य नहीं बन पाया था, द्विवेदीजी ने उसे इस योग्य बनाया। अच्छी पुस्तकें गम्भीर विषयों पर निकलने लगीं तथा गद्य की शक्ति में विकास होने लगा।

अनुवाद हुए तथा मौलिक कहानियाँ, उपन्यास तथा नाटक और निबन्ध लिखे जाने लगे। द्विवेदीजी ने आलोचना को जन्म दिया और पुस्तकों की स्वयं आलोचना करके और औरों से करवा के इस विषय में योग दिया। यद्यपि इस काल की आलोचना दोषपूर्ण है किन्तु उसके जन्म का श्रेय इसी काल को है। यही नहीं वरन् सम्पादन-कला को भी इस काल में उन्नति-लाभ हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ अधिक उच्च स्तर की निकलने लगीं तथा गद्य का प्रसार विस्तृत हो गया।

इस काल मे अनेक धुरन्धर लेखक हुए। द्विवेदीजी के अतिरिक्त माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल तथा गोपालराम गहमरी प्रभृति लेखकों ने हिन्दी गद्य के उत्थान मे योग दिया। शैली स्थिर हो गई और भाषा सुदृढ़ बन गई। आगे के काल मे भावाभिव्यक्ति तथा विषय का भेद तथा विकास हुआ।

आधुनिक काल

(सं० १९८२ से अब तक)

आधुनिक काल तक आते-आते हिन्दी-गद्य अपने निखरे हुए रूप को पा चुका था। द्विवेदी-काल के अधिकांश लेखकों ने

ही आधुनिक काल का निर्माण किया है। अभिव्यक्ति तथा शैली मे एक विशेष प्रकार की उन्नति हुई। इस काल में गद्य अपने उस उन्नत स्तर को पहुँच गया कि उसमें काव्य तक लिखे जाने लगे। गद्य-काव्यों का आधिक्य हमें इसी काल में मिलता है। भाषा इतनी सबल तथा लोचदार बन गई कि कोमल से कोमल तथा बारीक से बारीक भावों को व्यक्त करने में भी समर्थ हो गई। पत्रिकाओं आदि का इतना प्रचार हुआ, और हिन्दी का इतना देशव्यापी आन्दोलन हुआ कि हमारे देश के कई सूबों की यह राज-भाषा हो गई, और अन्त में अब उसे भारत की देश-भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

क्या नाटक, क्या उपन्यास और कहानी, क्या आलोचना तथा गम्भीर विषयक लेख—सभी ओर हिन्दी-गद्य की उन्नति हो रही है। अनेकानेक अनुवाद हुए हैं और अब तो हिन्दी से अन्य भाषाओं में भी अनुवाद होने लगे हैं। अन्य देशों की भाषाओं के प्रभाव से तथा उनके समागम से हिन्दी भाषा अब अपने गद्य को समृद्धिशाली बनाने में सफल हुई है।

अब भाषा की दृष्टि से गद्य-लेखकों का यह निश्चय हुआ है कि उर्दू, अँगरेजी आदि के जो शब्द भाषा में घुल-मिल गए हैं उनका प्रयोग जारी रखा जाय। हमें अपनी भाषा की शक्ति तथा उसका शब्द-भाण्डार बढ़ाने के लिए यह करना ही पड़ेगा अन्यथा भाषा रूढ़िग्रस्त होकर पतनोन्मुख हो जायगी। इस काल के मुख्य-मुख्य गद्य-लेखक हैं—प्रेमचन्द, बद्रीनाथ भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा, सुदर्शन, राय कृष्णदास, श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, गुलाबराय, भगवतीचरण वर्मा आदि।

इस काल में अनेक नये लेखकों का उदय हुआ है और होता
जा रहा है। हिन्दी-गद्य के उत्थान में प्रयत्नशील लेखकों के
प्रयत्न से हिन्दी भाषा कुछ ही दिनों में अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व
को पाने वाली है।

इस प्रकार हम क्रमिक रूप से देखते हैं कि प्रथम काल में
गद्य का जन्म हुआ; द्वितीय काल में उसका स्वरूप स्थि
हुआ, उसके शरीर की गठन हुई; तृतीय काल में उसमें शुि
हुई तथा उसके व्याकरणिक तथा अन्य दोषों का परिष्क
हुआ, उसमें बल आया; चतुर्थ काल में उसके पुष्ट शरीर
जो कि जन्म से ही महत्त्वाकांक्षी था, सौन्दर्य की अभिवृ
हुई, उसके सौंदर्य के प्रसाधन जुटाये गये। इस गद्य-वी
फिर अपने पुष्ट तथा सुन्दर शरीर के बल से अन्य भ
शत्रुओं पर विजय प्राप्त की और अब एकछत्र राज्य
रहा है।

वीर-गाथा-काल

(१) चन्द वरदाई

(सं० १२२५ से १२४६)

महाकवि चन्द का हमारे हिन्दी-साहित्य में वही स्थान है जो संस्कृत में आदि-कवि महर्षि बाल्मीकि का है। हिन्दी के प्रथम कवि चन्द ही थे और उनका रचा हुआ बृहत् ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। महाकवि चन्द भारतवर्ष के अन्तिम हिन्दू राजा महाराज पृथ्वीराज के सभासद् थे। कहा जाता है कि इनका जन्म महाराज के साथ-साथ हुआ था। तथा मृत्यु भी पृथ्वीराज के साथ-साथ ही हुई थी। 'रासो' के अनुसार इनका जन्म लाहौर में भट्ट जाति के जगात गोत्र के कुल में हुआ था। महाकवि चन्द को जालंधरी देवी का इष्ट था और उसके बल से वे अदृष्ट काव्य भी किया करते थे। महाकवि चन्द पृथ्वीराज के केवल सभासद् तथा चारण ही न थे वरन् वे उनके सखा तथा युद्धों में साथ देने वाले वीर योद्धा भी थे।

महाकवि चन्द ने केवल एक ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' लिखा था, जो कि ढाई हजार पृष्ठों का है। इसमें ६९ समय (अध्याय) हैं और पृथ्वीराज के अनेकों युद्धों का वर्णन है। गोरी के साथ उनके वैर का तथा उसके साथ युद्ध का और उसके फलादि का भी वर्णन है। इसमें अनेकों स्वयंवरों की कथाएँ भी हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस ग्रंथ की प्रामाणिकता बड़ी संदिग्ध है। इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्यों

के प्रतिकूल घटनाएँ तथा वर्णन हैं। यही नहीं, पृथ्वीराज के समय के बाद की घटनाएँ भी हैं। इसी कारण से कुछ लोग इसे जाली मानते हैं। यह संभव है 'रासो' के बाद के कवियों ने इसमें मिश्रण कर दिया हो, मूल 'रासो शायद छोटा हो और बाद को अन्य कवियों ने उसमें अपनी रचनाएँ मिला दी हों। 'रासो' की कोई प्रामाणिक प्राचीन प्रति भी नहीं मिलती है। यह तो कहा ही जाता है कि जैसे बाण-भट्ट की कादम्बरी को उसके पुत्र ने समाप्त किया था, उसी प्रकार 'रासो' को भी चन्द के पुत्र जल्हण ने समाप्त किया था। गोरी के साथ पृथ्वीराज का जो अन्तिम युद्ध हुआ था उसमें जाते समय चन्द ने ग्रन्थ को अपने पुत्र को दे दिया था, क्योंकि वे जानते थे कि क्या होने जा रहा है।

'रासो' में वीर रस का सरोवर लबालब भरा है। वीर भावों की व्यंजना जैसी इसमें हुई है वैसी अब तक कोई कवि करने में समर्थ नहीं हुआ है। केवल वीर ही नहीं, इसमें शृंगार का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। चाहे ग्रन्थ जाली हो, किंतु काव्य की दृष्टि से उसका मूल्य बहुत अधिक है। युद्धों का बड़ा सजीव वर्णन चन्द ने किया है, क्योंकि वे स्वयं लेखनी के साथ तलवार के धनी भी थे। उन्होंने स्वयं पृथ्वीराज के कन्धे से कन्धा मिला कर अनेक युद्ध किये थे। भावों की गहनता तथा अभिव्यक्ति में ग्रन्थ बेजोड़ है।

इसकी भाषा अत्यन्त प्राचीन है, जिसे डिंगल कहा जाता है। कहीं-कहीं ब्रज का-सा पुट है जो कि बाद के कवियों की कृपा प्रतीत होती है। इसी भाषा की अव्यवस्थितता के कारण काव्य पर संदेह होता है। चन्द ने अपने महा-काव्य में, जितने भी उस समय में छंद प्रचलित थे, सब का

प्रयोग किया है। छंदों के बन्धेज तथा उनकी भावानुकूलता दर्शनीय है। चन्द ने अलंकारों का भी बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। बड़ी-बड़ी सुन्दर उपमाएँ उन्होंने दी हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके काव्य में अलंकार स्वतः चले आते हैं। अलंकारों का बोझ-सा हमें नहीं दिखाई देता। भावों तथा कल्पनाओं को और अधिक सौंदर्य प्रदान करने के लिए ही अलंकार लाये हैं। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है :—

"वज्जिय घोर निसान रान चौहान चहों दिस।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठि राज प्रथिराज वाग लगि मनहुं वीर नट।
कढ़त तेग मन वेग लगत मनो बीजु झट्ट घट॥
"थकि रहे सूर केतिग गगन, रँगन मगन भई शोनधर।
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि, हुरेउ रंग नवरत्त बर॥"

(—पद्मावती समय)

---

(२) जगनिक

(रचनाकाल—सं० १२३० के लगभग)

जगनिक कालिंजर के राजा परिमाल के यहाँ भाट थे। इनका रचा 'आल्हखण्ड' आज भी उत्तर भारत के ग्रामीणों के गले का हार है। इनके जन्म-मरण का विवरण नहीं मिलता और न इनके काव्य 'आल्हखण्ड' की कोई प्रति ही। इन्होंने उसे एक 'वीर गीत' के रूप में लिखा था, किंतु उसका आदि रूप क्या था यह नहीं कहा जा सकता। लोगों के कण्ठों से होते-होते आजकल जो आल्हा पाई जाती

"एक थाल मोती से भरा; सबके ऊपर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥"
(आकाश)

"बीसों का सर काट दिया, ना मारा ना खून किया॥"

दूसरी पहेली में उत्तर भी साथ-साथ दिया हुआ है।

खुसरो बड़े प्रत्युत्पन्नमति थे, और उनकी हाजिर-जवाबी की बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हैं। एक बार खुसरो कहीं जा रहे थे, रास्ते में गर्मी अधिक थी और थक जाने के कारण खुसरो एक कुएँ पर जल पीने को गये। वहाँ कुछ पनिहारियाँ जल भर रही थीं। पानी माँगने पर उन्होंने पूछा कि 'तुम कौन हो?' खुसरो का परिचय पाकर उन्होंने कहा कि कोई कविता सुनाओ, तब जल पीने को मिलेगा। एक ने कहा चर्खे पर कविता सुनाओ, दूसरी बोली कुत्ते पर सुनाओ, तब तक तीसरी बोली ढोल पर सुनाओ, और बीच में ही चौथी बोल पड़ी खीर पर सुनाओ। खुसरो ने देखा, जितनी स्त्रियाँ हैं उतने ही काव्य के विषय बढ़ते जाते हैं, अतः अधिक देर न करके एकदम बोल उठे:—

"खीर पकाई जतन सों, चरखा दिया जलाय।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजाय॥
ला पानी पिला दे!"

खुसरो की प्रतिभा बड़ी सामंजस्यकारी थी, अतः वे हिन्दू-मुसलमान दोनों में समान रूप से लोकप्रिय थे।
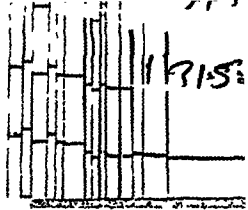
छन्दों के प्रयोग के विषय में इन्होंने विविधता नहीं दिखाई, अधिकतर गीतात्मक पदों का उपयोग किया। अत्यन्त ही कोमल मधुर भावों का प्रयोग इन्होंने किया तथा उसी के अनुरूप अलंकारों का सुन्दर समावेश भी किया। विद्यापति की रचनाओं को कृष्ण-काव्य की पंक्ति में ही समझना उचित है, वैसे वे शृंगारी अधिक हैं। उनके एक पद का कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

"लोचन तुअ कमल नहिं भै सक, से जग के नहिं जाने।
से फिर जाइ लुकैल्हन जल भँये, पंकज निज अपमाने॥
भन विद्यापति सुनु वर जोवित, ई सम लछमि समाने।
राजा 'सिवसिंह' रूपनरायन 'लखिमादेइ' प्रतिमाने॥

---

(२) कबीर

(सं० १४५६ से १५७५)

(निर्गुण धारा—ज्ञानाश्रयी शाखा)

इनका जन्म विक्रम सं० १४५६ में माना जाता है। इनके जन्म के सम्बन्ध में बड़ा मनोरंजक इतिहास है। काशी में स्वामी रामानन्द भूल से एक विधवा को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे गये। उसी विधवा ब्राह्मणी से कबीर का जन्म हुआ। वह बालक को "लहर-तालाब" के पास फेंक आई और उसे नीरू नामक जुलाहे ने उठा लिया। आरम्भ से ही कबीर में हिन्दू-भक्ति-भावना के लक्षण दिखाई देने लगे। वे राम-राम जपते तथा तिलक लगाते थे। उनकी इस भावना को उनके माता-पिता (जुलाहे-जुलाही) न दबा सके। आगे चलकर कबीर रामानन्दजी के शिष्य हो गये। इसकी भी

एक कथा है। रामानन्दजी पंचगंगा घाट पर प्रातः नहाने जाया करते थे। कबीर एक दिन सीढ़ियों पर लेट गये। स्वामीजी का पैर उनके ऊपर पड़ गया। स्वामीजी के मुख से निकल पड़ा:—'राम-राम कह'। बस इसी को कबीर ने गुरु-मंत्र मान लिया। कबीर अपना पेशा अपने जीवन के अन्त तक करते रहे। अपने करघे के पास बैठे-बैठे ही उन्होंने शिष्यों तथा साधुओं के सामने कविता की। कबीर पढ़े-लिखे न थे, इसी कारण उनकी कविता में गड़बड़ी देखने को मिलती है।

सन्त कबीर के नाम से उनका 'कबीर पंथ' चला जो अब तक चला आता है। वे बड़े पहुँचे हुए साधु थे। उनकी मृत्यु के समय भी एक विचित्र घटना घटी थी। उनके शव को ले जाने तथा अन्तिम क्रिया करने पर हिन्दू तथा मुसलमानों मे झगड़ा हो गया। दोनों दल उन्हें ले जाना तथा अपनी रीति से संस्कार करना चाहते थे। अचानक आकाशवाणी हुई कि 'व्यर्थ झगड़ा मत करो, शव को खोल कर तो देखो'। जब लोगों ने खोल कर देखा तो वहाँ शव के स्थान पर फूलों की ढेरी निकली। दोनों दलो ने उसे आधा-आधा बाँटकर अपने अपने धर्म के अनुसार उनका संस्कार किया। जन्म-जीवन आधा हिन्दू आधा मुसलमान तो था ही, मृत्यु के समय भी वे आधे-आधे दोनों धर्मों के रहे। कबीर हिन्दू-मुसलमानों के मेल के पक्षपाती थे। उन्होंने धर्मों की बुराइयों को निकालने का प्रयत्न किया तथा एक बीच का मार्ग पकड़ा जो कि 'कबीर मत' के नाम से प्रसिद्ध है।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, कबीर निर्गुण मत के मानने वाले थे। उनकी कविता में उनके मत का ही प्रतिपादन है। भगवत्-प्राप्ति केवल शुद्ध ज्ञान से हो सकता है, ऐसा

उनका विचार था और उन्होंने इस विचार को अन्त तक निभाया। कबीर की विशेषता यह थी कि निपट कट्टर होने पर भी वे जब यह समझ जाते थे कि वे गलत रास्ते पर हैं, तो तुरन्त अपनी भूल स्वीकार कर लेते थे। किन्तु जिस बात पर विश्वास हो जाता था उसे पूरी तरह से निभाते थे। आरम्भ में उन पर फकीरों तथा योगियों के प्रभाव से योग का प्रभाव पड़ गया था। उन्होंने उसको लेकर भी साखियाँ (दोहे) कही हैं। किन्तु बाद में उन्होंने इसे भी कर्मकाण्ड ही समझा और शुद्ध ज्ञान के पक्ष में योग को ठुकरा दिया और कर्मकाण्डी योगियो की खिल्ली उड़ाई। कबीर की कविता में केवल शुद्ध भक्ति मिलेगी। भक्त का भगवान् से विरह, उसका दुख, उसका विलाप, मिलने के पश्चात् सुख—इसके वर्णन से उनकी कविता लबालब भरी है।

कबीर का जितना महत्त्व कवि के रूप में है उतना ही सुधारक के रूप में भी है। यदि वे कोई बड़े विद्वान् होते तो न जाने उन्होंने क्या से क्या कर दिया होता। अनपढ़ सन्तों में रहने के कारण देश के पढ़े-लिखों पर उनका अधिक प्रभाव न हो सका। पाखण्ड, पोल, आडम्बर तथा कुरीतियों के विरुद्ध उन्होंने कड़ी आवाज उठाई; जाति-पाँति के भेद की निन्दा की; हिन्दू-मुसलमान दोनों को फटकारा; पत्थर-पूजा तथा नमाज-अजान दोनों की निन्दा की। कबीर के विचार बड़े शुद्ध थे। अपने राम से उन्हें अनन्य प्रेम था किन्तु था ज्ञान के प्रकाश मे ही। उनके भावों में बड़ी गहनता है। आश्चर्य होता है कि एक अनपढ़ फकीर इतने सुन्दर भावों को कैसे कविता में ला सका। समाज-सुधार, धर्म-सुधार तथा भक्ति के नैतिक स्तर का उन्होंने बड़ा ही विचित्र वर्णन किया। वे सामाजिक कुरीतियों के शत्रु थे।

कबीर की भापा के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किस भाषा में कविता की। शिष्यों ने उसे लिखा तथा उतारा अतः भाषा का रूप शिष्यों की योग्यता तथा भाषानुसार बदला होगा। देश-विदेश के सन्तों से मिलने तथा भ्रमण के कारण उसमे मिलावट भी बहुत अधिक है। पंजाबी से लेकर अवधी तक का पुट उसमें मिलता है। ब्रज तथा खड़ी बोली के रूप में भी अनेक रचनाएँ पाई जाती हैं। उनकी भाषा एक बेमेल खिचड़ी है, किन्तु बड़ी स्वादिष्ट तथा बलवर्धक। छन्दादि के विषय में केवल यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कोई पिंगल शास्त्र तो पढ़ा न होगा, अतः उनके छन्दों का बन्ध निर्बन्ध ही रहा। उन्होंने केवल दोहे तथा गीतात्मक पदों की रचना की थी। उनके छन्दों में दोप निकालना अत्यन्त आसान है।

कबीर को अपनी भाषा पर इतना अधिकार था, उनके हृदय में इतनी कल्पना तथा भाव भरे थे, कि अलङ्कारों की ओर उन जैसे अनपढ़ कवि का मन ही न गया होगा। किन्तु जो जन्म-जात प्रतिभा उन्हें मिली थी उसके कारण बड़े-बड़े सुन्दर भाव तथा उपमा-उत्प्रेक्षाएँ उनके काव्य में पाई जाती हैं। उनकी उपमाएँ तथा उदाहरण इतने उपयुक्त हुआ करते थे कि पढ़ने वाले पर तत्क्षण प्रभाव होता था। कबीर अपने व्यंग्य के लिये प्रसिद्ध हैं जो कि बड़ा ही तीक्ष्ण हुआ करता था।

कबीर की मृत्यु मगहर में हुई थी। उनका स्थान हिन्दी-साहित्य के कवियों में सबसे ऊँचे कवियों के साथ आता है। नीचे उनकी साखी तथा पदों में से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल॥

× × × ×

उजला कपड़ा पहन के पान सुपारी खाहिं।
एकै हरि के नाम बिन बांधे जमपुर जाहिं॥

× × × ×

मोकों कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास माँ।
ना मैं मन्दिर ना मैं मसजिद ना कासी कैलास माँ॥

× × × ×

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
इङ्गला पिंगला ताना भरनी, सात तत्व से बीनी चदरिया।
ध्रुव ओढ़ी प्रह्लाद ने ओढ़ी, ओढ़ के मैली कीनी चदरिया॥

---

(३) जायसी

(रचनाकाल सं० १५६५)
(निर्गुण धारा—प्रेमाश्रयी शाखा)

मलिक मुहम्मद जायसी प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे तथा जायस निवासी थे। इनका जन्म-समय ठीक-ठीक नहीं मिलता। हाँ, इतना निश्चित है कि ये सं० १५६५ के समय काव्य-रचना करते थे। ये बड़े ही कुरुप तथा काने थे। इन्होंने स्वय कहा है—"एक आँख कवि मुहमद गुनी"। इनकी इसी कुरूपता के कारण एक बार शेरशाह इन्हे देख कर हँस पड़ा था, जिसके उत्तर में इन्होंने कहा था:—'मोहि का हँसेसि कि कोहरहिं' (मुझे हँसता है या बनाने वाले के ऊपर हँसता है ? इससे शेरशाह बहुत लज्जित हुआ और इन्हें बड़ा सम्मान प्रदान किया।

जायसी का अपने समय में सिद्ध फकीर के रूप में बड़ा सम्मान था। अमेठी के राजा इनसे बड़े प्रसन्न थे। वे इनके

भक्त हो गये थे। कहा जाता है कि एक वार अमेठी के राजा ने किसी चलते-फिरते गायक से जायसी के 'पद्मावत' का 'वारहमासा' सुना था; बस उसी से प्रभावित होकर वे जायसी के भक्त हो गये और इन्हें अपने यहाँ रक्खा। मृत्यु से पूर्व ये अमेठी से दो मील दूर एक जंगल में रहने लगे थे। वहीं लगभग ६४६ हिजरी में इनकी मृत्यु हुई मानी जाती है। इनकी कब्र अब भी वहाँ बनी है तथा लोग दर्शनों को आते-जाते हैं।

जायसी ने तीन पुस्तकें लिखी थीं :—'आखिरी कलाम', 'अखरावट' तथा 'पद्मावत'। इनकी प्रसिद्धि तथा यश 'पद्मावत' पर ही आधारित है। 'आखिरी कलाम' में मुसलमानी पक्ष-पातपूर्ण उनके धार्मिक सिद्धान्त हैं, और 'अखरावट' में भी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर पर सिद्धान्त-सूक्तियों की रचना है। 'पद्मावत' में जायसी ने राजा रत्नसेन की पद्मावती की प्राप्ति का वर्णन किया है। इस महाकाव्य में रत्नसेन का अपूर्व प्रेम दिखाया है। रत्नसेन प्रेम-मार्गी भक्त के रूप में साधक वनकर अनेकानेक कष्ट सहन करके उस परम शक्ति स्वरूपा पद्मावती को पाता है।

इस ग्रन्थ में सूफी मतानुसार प्रेम-मार्ग का वर्णन है। उसकी परम्परा पहले से चली आती थी। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति केवल सूखे ज्ञान से नहीं, वरन् अनन्य प्रेम से होती है, यह इस मत का विश्वास है। साधक को वड़े-बड़े कष्ट उठाने पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस मत पर योग का प्रभाव पड़ा है जो कि 'पद्मावत' में भी देखा जा सकता है।

जायसी की विशेषता उनकी 'प्रेम की पीर' है। उन्होंने शृंगार, लगन, वियोग, पीड़ा, वीर तथा अन्य भावों का बड़ा ही हृदय-ग्राही समावेश अपने काव्य में किया है। जायसी ने

जिस रस को लिया है उसमें अत्यन्त गहनता का परिचय दिया है। वैसे ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने पूरे काव्य को भक्तिरूपक के रूप में माना है; और भक्ति का ही समावेश उसमें वे मानते हैं। जायसी के 'दिल में पीर' थी, अतः उन्होंने वियोग का इतना सुन्दर वर्णन किया है जितना कि अन्य स्थानों पर मिलना कठिन है। जायसी की भाषा अवधी थी। इन्होंने ठेठ अवधी का प्रयोग किया है, जो कि उस समय बोली जाती थी। तुलसी की अवधी साहित्यिक थी, किन्तु जायसी ने उसके चलते हुए रूप का प्रयोग किया है। जायसी ने 'पद्मावत' की रचना रामायण की भाँति दोहे-चौपाइयों में की है। चौपाइयों दोहों आदि में दोष हैं, जो कि उस समय को देखते हुए क्षम्य हैं। अलंकारों में जायसी ने बड़ा कौशल दिखाया है। अत्यन्त हृदय-ग्राही उत्प्रेक्षाएँ उन्होंने दी हैं। अनेक सुन्दर रूपक भी हैं। उनका युद्ध-वर्णन अत्यन्त मनोहारी और अलंकार पूर्ण है।

जायसी का स्थान हिन्दी भाषा के सर्वोत्कृष्ट कवियों में है। मुसलमान होते हुए उन्होंने हिन्दू कथानक को बड़े स्वाभाविक रूप से निभाया है। वे स्वयं संत थे और संत से ऊँचे कवि। नीचे उनके 'पद्मावत' से एक उद्धरण दिया जाता है:—

"तन चितउर, मन राजा कीना।
हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सूआ जेइ पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धधा।
बाँचा सोई न एहि चित बंधा।

राघव चेतन सोई सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥"

ऊपर के रूपक में उन्होंने अपने काव्य का उद्देश्य तथा अपने मत का स्पष्टीकरण किया है।

---

(४) महाकवि सूरदास

(सं० १५४० से १६२०)

(सगुण धारा—कृष्णाश्रयी शाखा)

सूरदासजी गऊघाट में (आगरा और मथुरा के बीच) एक सन्त के रूप में रहा करते थे। सूरदासजी जन्मान्ध थे। इनके अन्धे होने के विषय में एक कथा प्रचलित है। परन्तु यदि उस कथा को माना जाय तो सूरदासजी का जन्मान्ध होना नहीं ठहरता। वे जन्मान्ध हों, अथवा बाल्यकाल में उनके नेत्रों की ज्योति जाती रही हो, परन्तु यह निश्चय है कि वे अपने जीवन के मध्य में नेत्रविहीन अवश्य थे। प्रचलित कथा इस प्रकार है कि एक बार सूरदासजी अन्धे कुएँ में गिर पड़े। उस समय भी उनके नेत्रों में ज्योति न थी। परन्तु कुएँ में कृष्ण ने उन्हें दर्शन दिये और उनके नेत्रों की ज्योति उन्हें दी। सूरदासजी ने भगवान् से कहा कि जिन आँखों से उन्होंने एक बार भगवान् के दर्शन किये हैं उन्हीं आँखों से फिर सांसारिक वस्तुओं को नहीं देखना चाहते। भगवान् ने उनकी बात मान ली। नेत्रों की ज्योति भगवान् ने लौटा ली और सूरदासजी को हाथ पकड़कर कुएँ से बाहर निकाल लिया। इस कथा से केवल यह जाना जा सकता है कि सूरदासजी ने स्वयं नेत्रों की ज्योति लेना

अस्वीकार कर दिया, और यह भी पता चलता है कि कुएँ मे गिरने के समय भी वे नेत्र-विहीन थे। परन्तु यह नहीं मालूम पड़ता कि वे जन्मांध थे अथवा जन्म के उपरान्त उनके नेत्रों की ज्योति जाती रही थी। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि अपना कवि-जीवन उन्होंने ज्योतिहीन नेत्रों से ही विताया था।

एक वार जव वल्लभाचार्यजी गऊघाट पर उतरे तो उन्होंने सूरदासजी का कीर्तन सुना। सूर के पदों से आचार्यज़ी इतने प्रभावित हुए कि उन्हें अपने साथ श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन करवाने के लिए ले गये। सूर की कविता इतनी भावपूर्ण तथा सुन्दर थी, कि आगे चल कर गोस्वामी विठ्ठलनाथजी ने जिस अष्टछाप की प्रतिष्ठा की उसके सूरदास-जी प्रधान कवि माने जाने लगे थे। गोसाईं विठ्ठलनाथ वल्लभाचार्यजी के पुत्र थे। उन्होंने जिस अष्टछाप की प्रतिष्ठा की थी उसमे उस समय के व्रजभापा सर्वश्रेष्ठ के कृष्ण-भक्त, पुष्टि-मार्ग के अनुयायी कवि थे। उनके नाम हैं—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, छीत स्वामी, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, नन्ददास।

सूरदासजी वल्लभाचार्य के चलाये हुए पुष्टि-मार्ग के अनुयायी थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन अपने गुरु की आज्ञानुसार, श्रीकृष्ण भगवान् के गुण-कीर्तन, वाल-लीला, रास-लीला की कविता करके विताया। पुष्टि-मार्ग की सवसे वड़ी विशेपता यह है कि उसमें भक्त को प्रथम पूर्णरूप से समर्पण करना होता है। मनसा-वाचा-कर्मणा समर्पण के उपरान्त जव भगवान् की कृपा (पुष्टि) होती है तभी भक्त का त्राण होता है। मार्के की वात है कि भक्त चाहे कुछ करे

किन्तु जब तक भगवान् की कृपा न होगी, कुछ नहीं हो सकता। इस कृपा के भागी वे ही होते हैं जो शास्त्रीय, सामाजिक तथा और सब प्रकार की मर्यादाएँ छोड़ कर पूर्ण रूप से अपने आपको भगवान् के समर्पण कर देते हैं। राम-भक्ति शाखा तथा कृष्ण-भक्ति शाखा के विश्वासों मे यही मतभेद है। राम-भक्त तुलसी सामाजिक, शास्त्रीय, तथा सर्व प्रकार की मर्यादाओं के रक्षण के समर्थक थे, तथा उनके आराध्य राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। सूरदासजी ने अपने प्राण श्रीनाथजी के मन्दिर, गुरु तथा श्रीकृष्ण भगवान् के स्मरण में ही तज दिये थे। वे अनन्य भक्त तथा अपूर्व कवि थे।

सूरदास के तीन ग्रन्थ, 'सूरसागर', 'साहित्य लहरी' तथा 'सूरसागर सारावली' मिलते हैं। 'लहरी' में उन्होंने अलंकार, नायिका-भेद आदि का वर्णन किया है। इसी परम्परा को पकड़ कर रीति-काल के कवि, आचार्य तथा कवि दोनों होने के प्रयत्न करने लगे थे। 'लहरी' में सूर ने अत्यन्त क्लिष्ट कूट पदों को रखा है जिनका समझना अत्यन्त कठिन है। अन्य ग्रन्थों में सूर ने कृष्ण-चरित का बखान किया है। भागवत के दशम स्कन्ध की कथा पर आधारित अधिकतर उनकी रचनाएँ हैं। कृष्ण की बाल-लीला, रास-लीला, आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन है।

सूरदास की विशेषता है उनकी कोमलता। उन्होंने शृंगार तथा वात्सल्य का जैसा वर्णन किया है वैसा आज तक कोई कवि नहीं कर सका है। शृङ्गार में भी वियोग शृङ्गार का वर्णन उनका अनुपम है। सूर का क्षेत्र सीमित है। उन्होंने केवल दो-तीन भावों को लेकर ही अपनी कविता की है। किन्तु उस सीमित क्षेत्र में उनके सामने भावों की महत्ता,

क कवि-कुल-गुरु भक्त-प्रवर तुलसीदास भी सूर के क्षेत्र
में आ सकते। तुलसी की विशेषता है उनका भाव-
। मनुष्य जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं, ऐसा कोई
हीं, ऐसी कोई भावना नहीं, जिसे तुलसी ने नहीं
किया हो। उनकी कविता प्रत्येक भाव तथा रस में
कवियों से उत्कृष्ट है, किन्तु सूर के क्षेत्र (वात्सल्य तथा
) में सूर को तुलसी नहीं पा सके। तुलसी महान्
रोवर हैं जिसका पाट सैकड़ों मील है, उसमें अनेक
के स्वाद के जल तथा घाट हैं। सूर एक छोटे सरोवर
हैं जिसमें जल की गहराई अपूर्व है, जल की स्वच्छता
मिठास दर्शनीय तथा स्पर्शनीय है। गोपी विरह, कृष्ण
। तथा कृष्ण की बाल-लीला का उन्होंने अपूर्व वर्णन
है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने काव्य में
। का खण्डन तथा सगुण का मण्डन बड़े ही सुन्दर
से कराया है। यह विशेषता अष्टछाप के सब कवियों
। बाल-लीला के वर्णन में सूर बड़े-बड़े सूक्ष्म भावों को
कर लाये हैं। पुत्र की लीला, माता-पिता का उसके
चपन पर मोहित होना, माता का पुत्र को दण्ड देना,
घटनाओं का बड़ा मनोहर वर्णन किया है। तुलसी
के बाल-जीवन का वर्णन करते समय भी यह नहीं
कि राम भगवान् हैं, किन्तु सूर के लिए उनके बाल-
केवल एक अत्यन्त प्रिय, सुन्दर तथा नटखट और
त बालक है। भगवान् होने के नाते कुछ चमत्कारों का
है, किन्तु वह बाल-क्रीड़ावर्णन में व्यवधान नहीं है।
गीत-परम्परा का अनुगमन सूर ने किया वह कविवर
व की चलाई हुई थी।
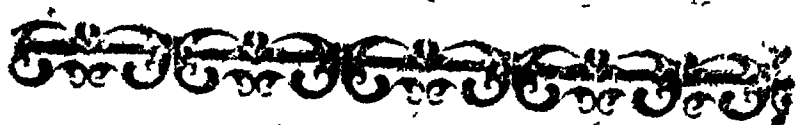
सूर की भाषा ठेठ ब्रज है; उसे उन्होंने परिष्कृत करके काव्योपयोगी बनाया। सूर की ही भाषा को आगे चलकर रीति-कालीन कवियों ने अपनाया तथा उसे और परिमार्जित किया। सूर का-सा भाषाधिकार अन्य ब्रज-कवियों में बहुत कम पाया जाता है। सूर ने केवल गीत-पद्धति ही को अपनाया; उन्होंने छन्द वैचित्र्य दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। अलङ्कारों के विषय में हम कह सकते हैं कि वे काव्य-शास्त्र के पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने बड़ी सुन्दर उपमाएँ तथा रूपक अपने पदों में दिए हैं। उनके अलङ्कार कहीं भी ऊहात्मक नहीं हैं जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है।

सूर का 'सूरसागर' प्रबन्ध-काव्य नहीं माना जा सकता, उसमें फुटकर पदों का संकलन अथवा सम्पादन मात्र है। स्कन्धों में विभाजित होने के कारण ही हम उसे महाकाव्य नहीं कह सकते। तुलसी से बड़े नहीं तो तुलसी से छोटे भी हम सूर को नहीं मान सकते।

सूर की कविता के उदाहरण—

बाल-लीला :—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
कितिक बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों, ह्वै है लाँबी मोटी॥

विरह-वर्णन :—

मधुवन तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग स्यामसुन्दर के, ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हो निलज, लाज नहिं तुमकों, फिर सिर पहुप धरे॥
ससा स्यार औ बन के पखेरू, धिक-धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे॥

(५) महाकवि तुलसीदास

(१५५५-'६८०)

(सगुण धारा—रामाश्रयी शाखा)

राम-भक्त कवियों में तुलसी का नाम सर्वोपरि आता है। ये रामानन्दजी के शिष्य थे। रामानन्दजी ने राम-भक्ति का प्रचार देश भर में घूम-घूम कर किया था। तुलसी का जीवन-वृत्त हमें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं है। किंवदन्तियों तथा अप्रमाणित पुस्तकों तथा कुछ और प्रमाणों के आधार पर लोगों ने उनकी जीवनी पूरी करने का प्रयत्न किया है। विद्वानों में अब भी इसके विषय में मतभेद चला आता है। इनका जन्म-स्थान राजापुर (बाँदा) माना जाता है। जन्म-तिथि में भी मतभेद है किन्तु साधारणतया सं० १५५४ मान्य है। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी था। जन्मते ही इन्होंने श्लोक बोला था तथा कहते हैं कि जन्म से ही इनके दाँत थे। जन्म के बाद ही माता का देहान्त होगया और भय के कारण पिता ने अपशकुनी कलङ्क समझ कर इनका त्याग कर किया। बचपन में ये अनाथ के समान रहे, भिक्षा माँग कर पेट भरते रहे। फिर महात्मा नरहरिदास से भेंट होने पर उनके साथ चले गए। महात्मा के साथ इन्होंने तीर्थाटन किया तथा विद्याध्ययन भी। ये बडे कुशाग्र-बुद्धि निकले और सब शास्त्रादि का अध्ययन अत्यन्त शीघ्र ही इन्होंने कर लिया।

युवावस्था में रत्नावली से इनका विवाह हुआ। उससे ये अनन्य प्रेम करते थे। एक बार उसके इनसे पूछे बिना मायके चले जाने पर ये उसके पीछे-पीछे ससुराल पहुँचे। कहते हैं घोर वर्षा में मुर्दे पर चढ़कर इन्होंने नदी पार की और

अर्द्धरात्रि में वहाँ पहुँचे। स्त्री ने लज्जा-मिश्रित [illegible] [illegible] [illegible] ...ोंने इनसे कहा :—

> "अस्थि चर्म मय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
> जो ऐसी श्रीराम में, तो काहे भव भीति॥"

इन मर्म वाक्यों को सुन कर गोस्वामीजी को वैराग्य हो गया। तत्काल वे घर छोड़ कर चले गये तथा फिर कभी गृहस्थ-जीवन में प्रवेश न किया। तीर्थों में रहे तथा भगवत्-भजन किया। असी घाट पर काशी में इनकी मृत्यु सं० १६८० में हुई।
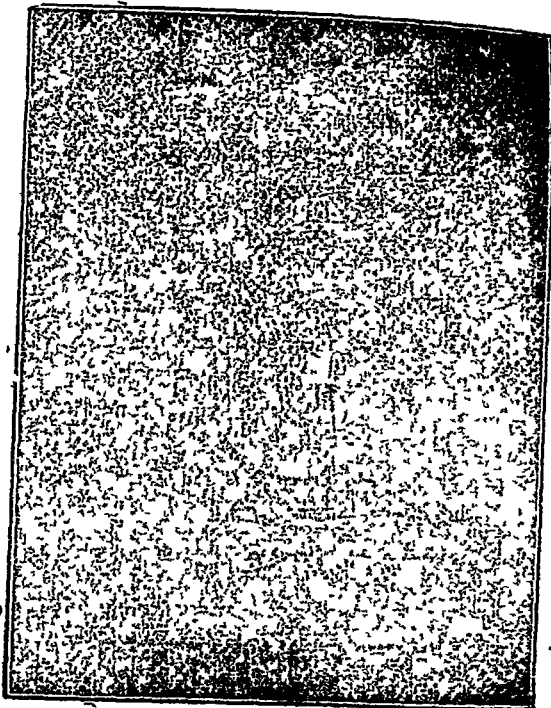
तुलसी के लिखे तेरह ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं। वे

ये हैं :—रामायण, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली, रामाज्ञा प्रश्न, रामलला नहछू, पार्वती मङ्गल, जानकी मङ्गल, बरवै रामायण, कृष्ण गीतावली, वैराग्य संदीपनी तथा हनुमान बाहुक। कृष्ण गीतावली, में इन्होंने कृष्ण-चरित्र का वर्णन किया है। इसमें इन्होंने कृष्ण के बाल्य-काल का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। उसमें—

" 'छोटी, मोटी, मीसी रोटी चिकनी चुपरि कें तू दै री मैया',
'लै कन्हैया' 'सो कब' 'अबहिं तात'
'सिगरी ऐ हों ही खैहों बलिदाऊ कों ना दैहों।' "—

जैसे ललित पद हैं। तुलसी वैष्णव थे अतः उन्हें विष्णु के सब रूप प्यारे थे। यद्यपि विशेष रूप से उन्हें राम से प्रेम था, किन्तु कृष्ण का गुणगान भी उन्होंने किया। यही नहीं, उन्होंने शिव की स्तुति भी बड़े प्रेम से की। तुलसी केवल भक्त तथा कवि ही न थे, वे बहुत बड़े सुधारक तथा युग-निर्माता भी थे। उनके समय तक शैवों तथा वैष्णवों में झगड़े चलते थे। उन्होंने शिव तथा राम का सामंजस्य करके हिन्दू धर्म के इस कलङ्क को मिटाया।

तुलसी की विशेषता यह है कि उन्होंने वीर से लगाकर सब रसों का वर्णन किया है। शृंगार का अत्यन्त मर्यादित वर्णन उनमें मिलता है। 'रामायण' जैसे महाकाव्य में उन्होंने राम का पूर्ण जीवन दिया। उसमें मनुष्य-जीवन के सब रूपों तथा भावों का वर्णन है। इस विषय में सूर तथा तुलसी का भेद हम ऊपर दर्शा आये हैं। तुलसी ने भक्ति-रस से पूर्ण 'विनय पत्रिका' में भक्ति रस का अत्यन्त मधुर स्रोत बहाया है। 'गीतावली' में बड़े सुन्दर गीत तथा 'कवितावली' में वीर रस की छटा अपूर्व है। यह तुलसी की विशेषता है कि उन्होंने मानव-प्रकृति को बड़े सूक्ष्म रूप से पहचाना है।

तुलसी ने ऐसा कोई छन्द नहीं छोड़ा जिसमें कि उन्होंने अपना काव्य-चमत्कार न दिखाया हो, सब प्रकार के छन्दों में उन्होंने रचना की। यही उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा है। उन्होंने व्रज तथा अवधी दोनों भाषाओं में कविता की। दोनों भाषाओं के ऊपर तुलसी के समान अधिकार रखने वाला आज तक कोई कवि नहीं हुआ। तुलसी की कविता में अलङ्कार हैं। बड़े भाव-पूर्ण रूप से उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग किया है। उनके अलङ्कार अर्थ तथा भाव में उत्कर्ष लाने वाले हैं। उनसे कविता का सौंदर्य बढ़ा है, वे भारस्वरूप नहीं हैं। सब अलङ्कारों का प्रयोग उन्होंने किया है।

हिन्दी संसार में अब तक उनसे बड़ा कोई कवि नहीं हुआ, और न होने की आशा है। तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता है उनका 'सामंजस्यवाद'। उन्होंने धर्मों में, वादों में, मतों में तथा रीतियों में, सब में ऐसा मेल कराया कि हिन्दुओं की धार्मिक तथा समाजिक और कौटुम्बिक शान्ति पुनः स्थापित हो गई। तुलसी ने गीत-पद्धति पर सूर का अनुगमन करके बड़े सुन्दर-सुन्दर गीत भी लिखे हैं। उदाहरण :—

"बालधी, बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधों व्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवार सी उघारी है॥"
(लंकादहन—कवितावली)

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संयुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहिं पन्थ अनेक॥"
(दोहावली)

"प्रबल प्रचन्ड बरवण्ड बाहुदण्ड बीर
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरि के।"

खिन्न होकर ये मथुरा-वृन्दावन में आ गईं तथा कीर्तन सुनाया करतीं और भगवान् की भक्ति में लीन रहने लगीं। एक वार घर वालों से तंग आकर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में गोस्वामीजी ने लिखा था कि भगवान् से जिन्हें प्रेम न हो उन्हें छोड़ दो चाहे वे कितने ही परम प्रिय क्यों न हों। कुछ लोग इस वात को नहीं मानते।

मीरा ने कृष्ण भगवान् से माधुर्य भाव में प्रेम किया था। उन्होंने भगवान से नाता जोड़ लिया था। भगवान् उनके लिए परम पुरुष थे, तथा उनके पति के समान थे। उनसे उन्हें अनन्य प्रेम तथा भक्ति थी। भाव-विकल होकर ही उन्होंने गाया था :—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सीस मोर मुकट, मेरो पति सोई।
अँसुअन जल सींच-सींच, प्रेम वेलि वोई॥
अव तो वेलि फैलि गई, का करेगो कोई।
संतन संग वैठि बैठि, जाति पाँति खोई॥"

इस प्रकार से सर्व प्रकार की मर्यादा भंग करके उन्होंने कृष्ण से अपूर्व प्रेम किया था। उनके लिए संसार में केवल कृष्ण ही मनुष्य थे। उस परम प्रिय स्वामी के लिए कुल, धर्म आदि सवकी मर्यादा उन्होंने तोड़ दी थी। उन्होंने अपने आराध्य देव के प्रेम के गीत वना कर ही अपना जीवन विताया था। द्वारिका में सं० १६०३ में उनकी मृत्यु हो गई।

मीरा ने अपने प्रेम के वियोग पक्ष का बड़ा अभूतपूर्व वर्णन किया है। कृष्ण से मिलन, तथा तद्जन्य प्रसन्नता का वर्णन भी उन्होंने किया है। उनका भाव भक्ति-शृंगार ही माना जायगा। उनमें भावों की गहनता तथा भावुकता कूट-कूट

कर भरी है। उन्होंने व्रजभाषा में कविता की थी, कहीं-कहीं अपने देश की भाषा का पुट भी उसमें आ गया है। किन्तु उनका ध्यान अलंकार तथा भाषा की ओर न था—वरन् उनके मन से स्वतः ही कविता की धारा बह निकली थी। अलंकार उनकी कविता में अपने आप आये हुए से प्रतीत होते हैं। कहीं प्रयत्न-प्रसूत अलंकार अथवा भाव उसमें नहीं मिलेंगे। मीरा ने केवल फुटकर पदों की गीत-पद्धति पर रचना की थी। उन्होंने कोई पुस्तक नहीं रची। सूर की पद्धति पर कविता करके उन्होंने अपने कृष्ण-प्रेम को जगत् को दिया।

कृष्ण-भक्तों की परम्परा में इस नारी भक्त का स्थान सर्वदा ऊँचा रहेगा।

---

(७) रसखान

(रचना-काल सं० १६००)

(सगुण धारा—कृष्णाश्रयी शाखा)

ये खानदान के पठान सरदार थे। मुसलमान कवियों में तथा कृष्ण-भक्तों में इनका स्थान इनकी भावुकता के कारण अत्यन्त उच्च है। इन्होंने गोसाईं विठ्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी तथा ये वृन्दावन में रहने लगे थे। इनका एक बार किसी से प्रेम हो गया, अपने प्रिय के लिए देश-देश उसके पीछे घूमने लगे। किसी ने इनसे कहा कि यदि इतना प्रेम भगवान् से हो तो फिर क्या है। इसीसे इनका मन बदल गया तथा ये कृष्णभक्त हो गये। इनके जीवन के विषय में विशेष वृत्तान्त नहीं मिलता। इन्होंने 'प्रेम-वाटिका' की रचना की। इनके सवैये इतने सुन्दर हैं कि अब शृङ्गार तथा प्रेम सम्बन्धी कविता के लिए लोग

कहते हैं 'कोई रसखानं सुनाओ'। वास्तव में ये रस-खान ही थे।

इन्होंने गीत-पद्धति को छोड़कर ब्रजभाषा में सवैयों में कविता की थी। इनकी भाषा की विशेषता है चलतापन तथा सरलता। भावों की कोमलता के साथ सुन्दर-सुन्दर अलंकारों का प्रयोग इनमें मिलता है। अलंकारों का बोझ इन्होंने कविता पर नहीं लादा। ये केवल कृष्ण के ही भक्त न थे वरन् ब्रज-भूमि के भी अनन्य भक्त थे। "केतिक हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारों" इन्हीं का प्रसिद्ध सवैया है। इन्होंने जन्म-जन्मान्तर तक ब्रज में जन्म लेने की आशा तथा इच्छा प्रकट की है। यहाँ तक कि यदि पशु-पक्षी का जन्म लें तो भी ब्रज में लेना चाहते हैं :—

"मानुस हों तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हों तो कहा बस मेरौ चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।।
पाहन हों तो वहै गिरि को जो, कियो हरि छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हों तो बसेरौ करौं नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।"

यह प्रसिद्ध सवैया इन्होंने भाव विगलित होकर लिखा था। भगवान् के भक्तवत्सल रूप का बड़ा मनोहारी वर्णन इन्होंने किया है। पुष्टिमार्गी भगवत् अनुग्रह जब होता है तो ऐसा होता है :—

"नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।।"

---

(८) केशव

(सं० १६१२ से १६७४)

(भक्तिकाल के अन्य कवियों में प्रधान)

आचार्य केशवदास के विषय में बड़ा विवाद चला है।

काल विभाग के अनुसार ये भक्ति-काल में पड़ते हैं। और भक्ति तथा शृंगार भावना के बीच की कड़ी के समान हैं। कुछ लोग इन्हें रीति-काल के प्रवर्तक मानते हैं, कुछ लोग नहीं मानते, क्योंकि जिन नियमों आदि की इन्होंने प्रतिष्ठा की थी उनका (उन लोगों के कथनानुसार) रीति-कालीनों ने पूर्णतया अनुशासन नहीं किया। कुछ भी हो, हमें यहाँ केवल यही देखना है कि वे कैसे कवि थे, और उन्होंने किस प्रकार हिन्दी कविता को आगे बढ़ाया। आरम्भ में ही हम यह कह देना उचित समझेंगे कि केशव का स्थान हिन्दी संसार में बड़ा ऊँचा है। तभी,

"सूर सूर तुलसी शशी उड़गन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकाश॥"

कहा गया है।

ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। पिता का नाम काशीनाथ था। ओरछा-नरेश के दरबार में रहा करते थे, और कहा जाता है कि जितना सम्मान तथा सम्पत्ति इन्हें मिली उतना सम्मान तथा सम्पत्ति हिन्दी-कवियों में किसी को अपने जीवन काल में शायद ही प्राप्त हुए हों। इनके घराने के सब लोग संस्कृत के अच्छे विद्वान् तथा कवि थे। इन्होंने छह ग्रन्थ लिखे थे, यथा:— रसिक प्रिया, कवि प्रिया, विज्ञान गीता, वीरसिंह देव चरित, जहाँगीर-जस चन्द्रिका और राम चन्द्रिका। केवल इतने ग्रन्थों का ही अब तक पता चला है। केशव भक्ति-काल में हुए। इन्होंने राम-भक्ति की 'राम चन्द्रिका' लिखी किन्तु वे भक्त कवि नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन्होंने अधिकतर शृङ्गार तथा रस-भेद, नायिका-भेद आदि पर लिखा है। रीति-कालीन कवियों के समान ही इनकी काव्य-प्रवृत्ति रही है। यदि केशव को हम रीति-काल का प्रवर्तक नहीं मानते तो उन्हें रीति-काल

का प्रथम कवि तथा भक्ति-काल का अन्तिम कवि मानना ही पड़ेगा।

केशव के विषय मे हमारे विद्वान् आलोचकों ने बड़ी कट्टरता से काम लिया है। हो सकता है कि भक्ति-काल की भक्ति-धारा में बहते-बहते यकायक केशव के आचार्यत्व तथा शृंगारिक रूप का धक्का उन्हें सहन नहीं हो सका। कहा जाता है कि उन्हें कवि-हृदय नहीं मिला था। ऐसा कहना अत्यन्त संकुचित मनोवृत्ति का परिचय देना है। केशव ने शृङ्गार तथा वीर-रस की कविता की, थोड़ा-बहुत भक्ति भाव को लिया किंतु केशव की विशेषता उनकी प्रतिभा है। भावों की विविधता उनमें नहीं है। दरबार के विलासी वातावरण में रहने के कारण उन्होंने करुण भाव को अपनी कविता में स्थान ही नहीं दिया है। 'राम चन्द्रिका' में उन्होंने अपने काव्य कौशल का दर्शन कराया है। वह महाकाव्य है। केशव अपने संवादों तथा वाक्-युद्ध-वर्णन के लिए अमर हैं। उनके से संवाद तुलसी भी न लिख पाये थे। केशव शहरी कवि थे, प्रकृति से उनका कोई नाता न था। उसका वर्णन यदि उन्होंने किया है, तो केवल इतिवृत्तात्मक। वस्तु के नाम भर गिनाये हैं। शृंगार में वे बड़े ऊँचे उठ गये थे—वे स्वयं बड़े रसिक थे। तुलसी पहले भक्त, फिर कवि थे और केशव पहले रसिक कवि, फिर भक्त थे। उन्होंने अलंकार-शास्त्र, नायिकाभेद आदि पर रीति की पुस्तकें लिखी हैं जिसके कारण वे आचार्य केशवदास कहे जाते है। उन पर एक आरोप लगाया गया है कि उन्होंने राम के विषय में कहा है "वासर की सम्पदा उलूक ज्यों न चितवत।" इसमें कवि ने केवल उपमा तथा तुलना का भाव ही दर्शनीय समझा है। तुलसी ने भी राम को 'विनय-पत्रिका' में एक स्थान पर "अज्ञान-राकेस-विधुन्तुद" कहा है। अतः

हमें यह सोच रखना चाहिये कि हमें प्रत्येक कवि को उसके विचारों तथा विश्वासों के भाव से जाँचना चाहिए, अपनों से नहीं। यह उसके प्रति घोर अन्याय तथा हमारे पक्ष में साहित्यिक पाप होगा।

केशव ने ब्रजभाषा में कविता की, महाकाव्य लिखा तथा फुटकर छंद भी रचे। भाषा में कहीं बुन्देली प्रभाव आ गया है। छंदों के विषय में कहना पड़ता है कि केशव छंदों के सम्राट् थे। उन्होंने विभिन्न प्रकार के छंदों का भावानुकूल प्रयोग किया है। इतने छंद तुलसी भी नहीं प्रयोग में लाये थे। केशव का एक दोष यह है कि उन्होंने अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग किया है। कहीं कहीं तो सचमुच पाठक ऊब कर झुँझला जाता है। कविता पर अलंकार कहीं-कहीं भारस्वरूप हो गये हैं। किन्तु यह इस कारण क्षम्य है कि केशव ने अपनी कविता में अपने आचार्यत्व को दिखाने का प्रयत्न किया है। उसमें उन्हें सफलता किसी सीमा तक ही मिल सकी है।

केशव की कविता के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। अतः केशव को समझने के लिए केशव की कविता पढ़ना अपेक्षणीय है। नीचे सीता के मुख के ऊपर केशव की कविता का छंद दिया जाता है।

"एक कहैं अमल कमल मुख सीता जू को।
एक कहैं चंद-सम आनँद को कन्द री॥
होय जो कमल तो रयनि मे न सकुचे री।
चंद जो तो वासर न होय दुति मंद री॥
वासर ही कमल, रजनि ही में चंद्र मुख।
वासर हू रजनि विराजे जगदम्ब री॥

देखे मुख भावे, अनदेखेई कमल चंद।
ताते मुख मुखे सखि, कमलौ न चंद री॥"

(राम चन्द्रिका)

इसमें मुख का सौन्दर्य कितने कौशल से चन्द्र तथा कमल से भी अधिक दिखया गया है।

रीति-काल

(१) विहारी

(सं १६६० से १७२०

कविवर विहारीलाल मथुरा के चौवे कहे जाते हैं। व्रज-मण्डल के अनुरूप ही इन्होंने शृङ्गारी कवियों में सब से उच्च स्थान प्राप्त किया है। इनका जन्म सं० १६६० में माना जाता है। इनका वचपन बुन्देलखण्ड में बीता था तथा अपनी तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आकर रहने लगे थे। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के दरवार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जब विहारी जयपुर पहुँचे तव मिर्जा राजा अपनी छोटी रानी के प्रेम के कारण सर्वदा महलों में ही रहा करते थे ; राज-काज से हाथ खींच लिया था। विहारी ने एक दोहा लिखकर भीतर भिजवाया और उससे प्रभावित होकर राजा को बाहर आना ही पड़ा। तव से विहारी का मान बहुत वढ़ गया। राजा ने विहारी को दोहे रचने को कहा तथ प्रति दोहा एक अशर्फी इनाम देने का वचन दिया। विहारी ने सात सौ दोहे बनाये तथा पारितोषिक प्राप्त किया। इन्हीं सात सौ दोहों को एकत्रित करके उन्होंने अपनी एकमात्र रचना 'विहारी सतसई' का निर्माण किया, जो कि उनकी इतनी ख्याति की मूल है।

"इनका एक-एक दोहा हिन्दी-साहित्य का रत्न है।" 'सतसई' की कई टीकाएँ हो चुकी हैं तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद भी हुए हैं। मुक्तक कविता में जिन गुणों की

आवश्यकता होती है उनका चरम उत्कर्ष हमें बिहारी में मिलता है। उन्होंने केवल शृंगार का वर्णन किया है। जीवनान्त के समय कुछ दोहे नीति तथा भक्ति के रचे थे। शृंगार की 'रीति'-परम्परानुसार जितनी अवस्थाएँ हो सकती हैं, जितनी भी प्रकार की नायिकाएँ तथा नायक होते हैं, सब का वर्णन उन्होंने किया है। रीति-परम्परा के दृढ़ अवलम्बन के कारण जो पाठक रीति-प्रथा से परिचित नहीं हैं उन्हें किसी-किसी दोहे के अर्थ करने में कठिनाई पड़ती है। यह भी काल के प्रभाव का दोष ही है। बिहारी में कल्पना की उड़ान इतनी है जितनी कि हिन्दी के और किसी कवि में नहीं है। बिहारी ने असंभव उपमाओं की भरमार-सी कर दी है। शृंगार में उन्होंने कुछ नहीं छोड़ा जो कि दोहों में रखा जा सकता है। वे घोर शृंगारी थे—कहीं-कहीं अश्लीलता का भी विचार अपनी कवि-झोंक में नहीं रख सके हैं। रीति-काल के वे स्तम्भ हैं तथा बड़े लोकप्रिय हैं।

बिहारी की ब्रज भाषा चलती हुई होने पर भी पूर्ण-रूपेण साहित्यिक है। उसमें बुन्देली का पुट भी पाया जाता है। ब्रजभाषा के बल को बिहारी ने खूब पहिचाना तथा उसके रूप को खूब मार्जित किया। उन्होंने भाषा को अधिक तोड़ा-मरोड़ा नहीं है—जो कि रीति-कालीनों की सामान्य प्रवृत्ति है। एक-एक दोहे में आठ-आठ अलंकारों का उत्कर्ष हम केवल बिहारी में ही पाते हैं। उनके अलंकार बड़े गठे हुए तथा पूर्ण हुआ करते थे। बिना अलंकारों के उन्होंने कविता की ही नहीं है। फिर भी उनका बोझ नहीं लादा है। बिहारी ने केवल दोहों की रचना की है। किन्तु इस छन्द को उन्होंने अपनी पूर्णता को पहुँचा दिया है। वे एक छन्द लेकर

काव्य-क्षेत्र में उतरे थे और आज तक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसने विहारी के-से गठे हुए दोहे लिख पाये हों, प्रयत्न बहुतेरों ने किया।

उदाहरण :—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥"
"कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौराय नर, यह पाये बौराय॥
"तंत्री नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥"

विहारी हिन्दी-संसार में अपने दोहों के लिए अमर हैं और जब तक रसराज शृंगार का कविता पर आधिपत्य है तब तक विहारी का आधिपत्य भी कविता पर रहेगा।

---

(२) भूषण

(सं० १६७० से १७७२)

वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण, मतिराम तथा चिन्तामणि के भाई थे। इनका जन्म सं० १६७० में हुआ था। चित्रकूट के सोलंकी राजा ने इन्हें भूषण की उपाधि दी थी। इनका असली नाम विदित नहीं है। एक बार भाभी के व्यंग्य बाणों से घायल होकर ये घर से निकल पड़े थे। दाल में नमक कम होने पर जब इन्होंने माँगा तो इनकी भाभी ने कहा "बड़ा कमा कर रख देते हो न, जो मीन-मेख निकालते हो।" कवि भूषण घर से निकल पड़े। अन्त में इनके आश्रयदाता शिवाजी इन्हें मिल गये जो कि इनके वीर काव्य

के नायक बने। पन्ना के छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा मान था और इन्होंने उनकी विरुदावली में भी वीर काव्य किया। इन्होंने 'शिवा बावनी', 'छत्रसाल दशक', शिवराज भूषण', 'भूषण उल्लास' तथा 'भूषण हजारा' नाम के ग्रंथ लिखे थे। अन्तिम तीन ग्रन्थ अप्राप्य हैं। ये जब शिवाजी के पास जा रहे थे, तब इन्हें रास्ते में एक आदमी मिला। उसने पूछा कि वे कहाँ और क्यों जा रहे हैं। भूषण ने बताया कि शिवाजी के पास उनके सम्बन्ध की वीर कविता सुनाने जा रहे हैं। उस व्यक्ति ने सुनने की इच्छा प्रकट की। भूषण ने "इन्द्र जिमि जंभ पर" वाला छंद सुनाया। बारबार सुनाने के आग्रह पर उन्होंने उसे ५२ बार सुनाया और अंत में झुँझला पड़े। वह व्यक्ति शिवाजी स्वयं थे। यह जानकर भूषण ने बाद को ५२ छंदों की 'शिवा बावनी' रची और उस विशेष छंद को ५२ बार सुनाने के पारितोषिक में शिवाजी ने उन्हें ५२ लाख रुपये दिये।

भूषण की विशेषता यह है कि उन्होंने शृङ्गार के युग में वीर रस की कविता की। लाल कवि ने और वीर काव्य इस काल में किया था। ब्रजभाषा में वीर रस की कविता नहीं हो सकती, इस मत का खण्डन करने को हिन्दी के पास केवल भूषण की कविता है। भूषण ने केवल वीर रस की कविता की और वह अत्यन्त ओजपूर्ण है। मुसलमानी अत्याचार के विरुद्ध जिसने खड्ग उठाया वह भूषण का सिरताज हो गया। भूषण हिन्दू शौर्य के प्रतीक थे। उनकी कविता में अपूर्व ओज है। बिना व्यर्थ के अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग किये ही उन्होंने ब्रज के शब्दों में सुन्दर कविता की। अलंकारों का प्रयोग कविता के नीचे ही रखा;

केवल भावोत्कर्ष के लिए ही उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया। उन्होंने केवल एक ही छंद को लिया और उसमें वीर रस को कूट-कूट कर भरा। उनका छंद पढ़ने पर अनायास ही हिन्दू मात्र की भुजाएँ फड़कने लगती हैं। भूषण स्वयं खड्गधारी भी थे।

रीति-काल में कवियों की विवशता का उदाहरण है, भूषण का लक्षण-ग्रन्थ लिखना। उन्होंने 'शिवराज भूषण' नामक अलंकारों का ग्रन्थ बनाया जिसका मूल्य अधिक नहीं कहा जा सकता। उस समय जब तक अलंकारों का प्रयोग न होता था, जब तक कवि अलंकार शास्त्र पर पुस्तक न लिखता था (आचार्यत्व का दावा न करता था), तब तक वह कवि ही न माना जाता था। शिवाजी जब औरंगजेब के दरबार में गये-तब क्या हुआ इसका वर्णन कितना ओजपूर्ण है, देखिये :—

"सबनि के ऊपर ही ठाढ़ो रहिवे के जोग,
ताहि खरो कियो छै-हजारिन के नियरे।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों ना सलाम, ना वचन बोले सियरे॥
भूषण भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भयो,
स्याह मुख नौरंग, सिपाह मुख पियरे॥"

---

(३) मतिराम

(रचना-काल सं० १७३०)

इनका जन्म लगभग १६७४ में तिकँवापुर में हुआ था।

ये भूषण के भाई प्रसिद्ध हैं। इनकी आयु लम्बी थी, तथा ये बूँदी के राजा भावसिंह के यहाँ बहुत दिनों तक रहे थे। केवल इतना ही साधारण-सा जीवन-वृत्त इनका प्रामाणिक रूप से प्राप्य है। इन्होंने पाँच ग्रन्थ रचे—'ललित ललाम', 'छंदसार', 'रसराज', साहित्यसार', 'लक्ष्मण-शृंगार' तथा 'मतिराम-सतसई'। इनका 'रसराज' ग्रन्थ ही विशेष प्रसिद्ध है। 'सतसई' में इन्होंने विहारी के समान दोहों की रचना की है। दोहे सरसता में विहारी के समान ही हैं।

मतिराम रीति-काल के मुख्य कवियों में गिने जाते हैं। इनकी विशेषता है इनकी अकृत्रिमता। सर्वदा अत्यन्त स्वाभाविक तथा सरस भाव और कल्पनाओं को इन्होंने कविता में स्थान दिया है। कहीं भी विहारी की-सी 'दूर की कौड़ी' खोजने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया और न असम्भव कल्पनाएँ ही की हैं। इसी स्वाभाविकता तथा सरसता के कारण इनका मान है। वैसे प्रत्येक रीति-कालीन कवि के समान इन्होंने भी छंद-अलंकार-शास्त्र पर रीति-ग्रन्थों की रचना की है। भावों में हेरफेर तथा उन्हें आसमान पर चढ़ाना मतिराम को प्रिय न था। उन्हें प्रेम का सीधा स्वभाविक रूप प्रिय था।

भावों के समान भाषा में भी मतिराम ने स्वाभाविकता को निभाया है। इन्होंने ब्रज के सहज रूप को ही लिया, उसे तोड़ा-मरोड़ा नहीं, और न उसे अलंकार-भार से लादा ही, यद्यपि अलंकारों का प्रयोग इन्होंने कम नहीं किया है। मतिराम ने छंद-वैभिन्न्य भी नहीं दिखाया है, कवित्त तथा सवैये और दोहे जैसे कुछ ही छन्दों का प्रयोग किया है। किन्तु इनकी रचना दोष-पूर्ण नहीं है। मतिराम अपनी

स्वाभाविकता, स्वच्छता, सरलता तथा सरसता के लिए प्रसिद्ध हैं और रहेंगे। एक सुन्दर उक्ति देखिये :—

"कुन्दन को रँग फीको लगे,
झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिनमें अलसानि, चितौन में,
मंजु विलासनि की सरसाई॥
को विनु मोल विकात नहीं,
मतिराम लहैं मुसुकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों त्यों खरी निकरे सी निकाइ॥"

---

(४) देव
(जन्म सं० १७३०)

कविवर देव इटावा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज बताने का प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। इन्होंने जब अपने प्रथम ग्रन्थ 'भाव विलास' की रचना की थी, उस समय इनकी आयु सोलह वर्ष की थी। यह सं० १७४६ की बात है। इसके अनुसार इनका जन्म-संवत् १७३० ठहरता है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अनुमान विद्वद्वर रामचन्द्र शुक्ल ने लगाया है कि इन्हें कोई अच्छा आश्रयदाता नहीं मिला, जिसकी छत्रछाया में इन्होंने काल-यापन किया हो। ये बराबर एक धनी के दरबार से दूसरे के यहाँ घूमते रहे, किन्तु टिके कहीं नहीं। यह या तो

इनकी प्रकृति की विचित्रता का परिचायक है या इनकी काव्य-रुचि के उस काल की प्रवृत्ति से वैभिन्य का परिचायक है। औरंगजेब के पुत्र आजमशाह को इन्होंने अपनी कविता सुनाई थी जो कि हिन्दी-कविता का प्रेमी था। इन्होंने देश में भ्रमण काफी किया था। जीवनान्त के समय शायद इन्हे राजा भोगीराज का आश्रय मिल गया था, क्योंकि उनकी इन्होंने प्रशंसा की है। रीति-काल के कवियों में देव ने शायद सबसे अधिक संख्या में ग्रन्थ लिखे हैं। कोई इनके ग्रंथों की संख्या ५२ बताता है और कोई ७२, जिनमें से केवल २५ का पता चलता है। देव ने 'ब्रह्मदर्शन पच्चीसी' भी लिखी जिसमें कि विरक्ति का भाव झलकता है।

देव की विशेषता यह है कि जितने बड़े ये कवि थे उतने ही बड़े ये आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया है और अलंकार-रसादि का अच्छा विवेचन किया है। रीति-कालीन कवियों में आचार्य के रूप में भी इनका स्थान बड़ा ऊँचा है। ये रीति-काल के स्तम्भ थे।

देव में मौलिक प्रतिभा तथा काव्य प्रतिभा का प्राचुर्य था। देव में कहीं-कहीं अकारण शब्दव्यय पाया जाता है। बड़े-बड़े पेचीले उपमा-रूपक बांधकर इन्होंने कविता की है, किंतु बीच में आकर शिथिल हो जाते हैं। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह के अभाव का कारण भी यही है। यह तो हुआ कविवर देव का दोष। किंतु देव का-सा अर्थ-सौष्ठव तथा नूतन भावों का अतिरेक विरले ही कवियों में पाया जाता है। इनकी कविता में बड़ी सूक्ष्म कल्पना तथा दुरारूढ़ भावना पाई जाती है।

भाषा, देव ने अत्यन्त परिमार्जित ब्रज ली है। देव की भाषा में प्रवाह है। उन्होंने भाषा की शक्ति को पहचान कर

उसका भावानुकूल प्रयोग किया है। रीति-कालीन कवियों के समान ही उन्होंने भी सवैये, कवित्त आदि में कविता की है। छंदों में हमें ढीलापन नहीं मिलता। वे स्वयं आचार्य थे अतः उन्होंने काव्य के नियमों को कौशल से निभाया है। काव्य-नियमों की धुन में वे अलंकारों का जटिल प्रयोग भी यदाकदा कर गये हैं। इससे कहीं-कहीं उनके काव्य की भावनाओं के ऊपर पर्दा-सा पड़ गया है। देव ने अनेक ग्रन्थ बनाये हैं किन्तु रीति-काल की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार फुटकर काव्य की ही रचना की है, प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखा है।

शृंगार के विषय में इन्होंने बड़ी-बड़ी दूर की भावनाएँ खोजी हैं। एक मात्र शृंगार के कवि होने के कारण कविता में एक ही भाव की पुनरुक्ति दिखाई पड़ती है, किन्तु यह रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक पक्ष में रीतिकालीन रीतियों का अनुगमन करके देव रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हो गये हैं। उनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है।

"झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परत मानौ,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सों 'चलो झूलिबे कों आजु',
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन में॥
चाहति उठ्योई, उठि गई सो गिनोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँखि खोलि देखों तौ न घन हैं, न घनश्याम,
वेई छाई बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन में॥"

(५) घनानन्द

(सं० १७४६ से १७९६)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि घनानन्द "साक्षात् रसमूर्त्ति और ब्रजभाषा के प्रधान स्तम्भों में हैं" जन्म इनका संवत् १७४६ के लगभग हुआ था और ये १७९६ की नादिरशाही मे मारे गये थे। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुन्शी थे। सुजान नामक वेश्या से प्रेम करते थे। ये बड़े मौजी तथा स्वतन्त्र और निर्भीक थे। एक दिन बादशाह के बहुत अनुरोध करने पर जब इन्होंने गाया तो अपनी प्रिया सुजान की ओर मुख और बादशाह की ओर पीठ करली। इस पर बादशाह ने इन्हें निकाल दिया और ये वृन्दावन में आकर निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव हो गये। नादिरशाह के आक्रमण के समय कुछ आततायी मथुरा तक आ गये, और यह सुनकर कि बादशाह का मीर मुन्शी वृन्दावन में रहता है, धन के लोभ से कवि को घेर लिया। उन्होंने घनानन्द को घेरकर 'जर' 'जर' ('धन' 'धन') कहना आरंभ किया। घनानन्द ने तीन मुट्ठी वृन्दावन की धूलि उनके मुखों पर फेंकते हुए कहा: 'रज' 'रज'। सैनिकों ने इनके हाथ काट डाले। रसिक कवि ने मरते समय सुजान से विदा माँगते हुए अपने रक्त से एक छन्द लिखा था। इनके लिखे पाँच ग्रंथों का पता चलता है, और कई सौ फुटकर सवैये आदि भी पाये जाते हैं।

शृङ्गारी कवियों के समान घनानन्द ने अत्यन्त सरस कविता की है। इनका-सा माधुर्य कम कवियों में पाया जाता है। वियोग में भी रसपूर्ण कविता इन्होंने की है। इनका

जीवन स्वयं एक कविता था। घनानन्द जिस गुण के लिए प्रसिद्ध हैं वह उनकी भाषा है। "इनकी-सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में कोई समर्थ नहीं हुआ।" विशेषता यह थी कि इन्होंने वे भाषालंकार तथा अभिव्यक्ति के रूप अपनी भाषा में रखे जो कि आज कई सौ वर्ष बाद आधुनिक कवि प्रयोग में ला रहे हैं। विशेषण-विपर्यय तथा इसी प्रकार के अन्य भाषा के गुण इन्होंने काव्य में भरे। घनानन्द, बोधा तथा ठाकुर, इन तीन कवियों का नाम रीति-काल के स्वतन्त्र कवियों के रूप में आता है। इन्होंने रीति का उतना अधिक पालन नहीं किया था।

अलंकारादि भी इन्होंने उचित मात्रा में ही रखे हैं। छंदों के विषय में इन्होंने रीति-पद्धति के अनुसार केवल कुछ ही छंद, सवैये, कवित्त आदि का प्रयोग किया है। घनानन्द का रीति-काल के आधुनिकता का बीज लिये हुए कवियों में उच्च स्थान है। इनकी-सी "जबाँबंदी" वाला प्रेम-मार्ग का धीर पथिक हिन्दी-साहित्य में शायद ही कोई मिले।

घनानन्द की कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

"ए रे बीर पौन : तेरो सब ओर गौन, वारि
तो सों और कौन मनै ढरकौंही बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े कों समान, घन-
आनंद निधान सुख-दान दुखियान दै,
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।

विरह बिथा की मूरि आँखिन में राखों पूरि,
धूरि तिन्ह पाइँन की हा-हा नेकु आनि दै ॥"

उपर्युक्त काव्यांश से ही घनानन्द की सरसता तथा उनका भाषाधिकार दिखाई देता है। "जगत के प्रान" से लेकर "दुखियान दै" तक की पंक्ति में नाद सौन्दर्य दर्शनीय है।

---

(६) पद्माकर

(सं० १८१० से १८९०)

रीति-काल में अनेक कवि हुए हैं। उन्होंने अत्यन्त सरस तथा काव्यगुण-सम्पन्न कविता की है, किन्तु बिहारी तथा उनके बाद पद्माकर भट्ट को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वैसी किसी को नहीं मिली। पद्माकर सहृदय-समाज के हृदय-हार थे, और हैं। इनकी रचना की लोकप्रियता का कारण है उसकी रमणीयता। इसी कारण वह सर्वप्रिय हुई है। रीति-काल के ये अन्तिम प्रतिनिधि कवि थे। इनके बाद प्रताप-साहि ने और रचना की, तथा इन दोनों के समय में रीति-कालीन कविता अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचकर पतनोन्मुख हो गई। "जिस प्रकार पद्माकर अपनी परम्परा के परमोत्कृष्ट कवि हैं, उसी प्रकार प्रसिद्धि में भी अन्तिम हैं। देश में जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चल कर और किसी कवि का नहीं।" ये तैलंग ब्राह्मण थे, पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था, जन्म बाँदा जिले में हुआ था। पूर्ण पंडित तथा श्रेष्ठ कवि होने के कारण इनके पिता का कई राजाओं के यहाँ विशेष सम्मान हुआ था। पद्माकर नागपुर के राजा के यहाँ

रहे, पन्ना-महाराज के गुरु हुए और फिर जयपुर-नरेश के यहाँ रहे। पद्माकर कवि का जन्म सं० १८१० में हुआ और इन्होंने ८० वर्ष की आयु पाई। 'हिम्मत बहादुर' के नाम पर इन्होंने वीर-रस की एक सुन्दर पुस्तक लिखी है।

शृङ्गारी कवि होने पर भी अपनी प्रतिभा के बल पर न्होंने वीर-रसात्मक काव्य भी किया, जो सफल रहा। भक्ति-रस से परिपूर्ण एक ग्रन्थ भी इन्होंने लिखा है। अन्तिम समय में कानपुर में गंगाघाट पर रह कर इन्होंने भक्ति-रस की कविता की। इसीसे विदित होता है कि पद्माकर की प्रतिभा अन्य कवियों की भाँति केवल शृंगार तक ही सीमित नहीं थी। मतिराम के 'रसराज' के समान पद्माकर का 'जगद्विनोद' भी समाज का प्रिय हो गया है। यह ग्रन्थ शृङ्गार का निचोड़-सा प्रतीत होता है। बड़ी ही मधुर कल्पना इन्होंने की है। विशेषता यह है कि अपनी कविता में ये चित्र-सा खींच देते हैं। भावों की गहराई तथा प्रत्यक्ष अनुभूति के कारण कविता में रमणीयता की मात्रा अत्यधिक है। पद्माकर का-सा सजीव मूर्ति-विधान तथा हाव-भाव-वर्णन विहारी को छोड़ अन्य कोई कवि नहीं कर सका है। कल्पना के साथ वाणी का सुन्दर सामंजस्य पद्माकर की कविता में अपूर्व रूप से झलकता है।

इनकी व्रजभाषा स्निग्ध, मधुर पदावली से युक्त तथा भाव-मूर्तियों से परिपूर्ण होती है। वीर रस के वर्णन में भाषा की शक्ति का इन्होंने अच्छा उपयोग किया है। भाषाधिकार के पक्ष मे पद्माकर व्रजभाषा के अंतिम कवि थे और उनकी पद्धति को आगे चल कर केवल रत्नाकर ही फिर से उठा सके। भाषा की अनेक-रूपता में पद्माकर गोस्वामी तुलसीदास के साथ जा खड़े होते हैं।

पद्माकर की एक और विशेषता है उनका अनुप्रास-प्रेम। बड़े अनुप्रासों का प्रयोग वे करते हैं; जैसे—"छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर"। इनके अनुप्रास-प्रेम के कारण इनकी कविता के प्रवाह में बाधा नहीं आई। स्वाभाविक अलंकारों का प्रयोग इनकी विशेषता है। वे "अनुप्रासों के बादशाह" थे। पद्माकर ने छन्दों के प्रयोग मे अधिक वैविध्य नहीं दर्शाया है, परन्तु जिन छन्दों को लिया है उन्हें पूर्ण रूप से मॉज दिया है। अधिकतर फुटकर रचना करके भी इन्होंने प्रबन्ध-काव्य की ओर कुछ प्रवृत्ति दिखाई थी। एक उदाहरण लीजिये :—

"फागुन भीर अभीरन में गहि गोविन्द ले गई भीतर गोरी॥
भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाइ अबीर की झोरी॥
छीनि पितम्बर कम्मर तें, सुविदा दई मीड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, 'लला फिर आइयो खेलन होरी'॥"

अन्तिम पंक्ति की मूर्तिमत्ता देखने योग्य है। पद्माकर में वर्णनात्मक पद लिखने की प्रतिभा भी थी और अत्यधिक अनुप्रासों का प्रयोग इन्होंने केवल वर्णनात्मक पदों में ही किया है। वैसे भावपूर्ण तथा रसपूर्ण मधुर पदों में इन्होंने स्वाभाविक शृंगार की अपूर्व छटा दिखाई है।

आधुनिक काल

(१) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

(सं० १९०७ से १९४१)

हिन्दी-साहित्य की गति को रीति से आधुनिक पद्धति की ओर लाने वाले भारतेन्दुजी, इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में उत्पन्न हुए थे। ये काशी के निवासी 'गिरधरदास' उपनाम के कवि बाबू गोपालचन्द के यहाँ सं० १९०७ में पैदा हुए थे। पाँच वर्ष की अवस्था ही में इन्होंने एक दोहा बनाकर अपने पिता को दिखाया था। इनके कवि-पिता इससे अत्यंत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया कि हरिश्चन्द्र उनके कुल की परम्परा की रक्षा करेंगे। पाँच वर्ष की अवस्था में भारतेन्दुजी की माता परलोक सिधार गईं तथा नौ वर्ष की अवस्था में इनके पिता चल बसे, इस कारण इनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध न हो सका।

भारतेन्दुजी अत्यन्त रसिक प्रकृति के वैष्णव भक्त थे। वे वल्लभ मत के अनुयायी, पुष्टि-मार्ग के मानने वाले थे, और कृष्ण के अनन्य भक्त थे। सूरदास की पद्धति के पुष्टि-

मार्गी अनन्य भक्त आधुनिक काल में केवल हरिश्चन्द्र ही हुए हैं। उनके बाद इस परम्परा का अन्त-सा ही हो गया। जब उर्दू मिश्रित (अंग्रेजी दासता की प्रतीक) भाषा के पक्षपाती राजा शिवप्रसाद को सरकार से 'सितारे हिन्द' की उपाधि मिली, तो भारत के साहित्यकारों ने हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' ('भारत-इन्दु') की उपाधि से विभूषित किया। हरिश्चन्द्रजी का जीवन काल केवल ३५ वर्ष का था, किन्तु इतने समय में ही उन्होंने इतना कार्य किया कि यह युग ही भारतेन्दु-युग कहा जाता है। जीवनान्त के समय वे दुःखी तथा अर्थ-संकोच के कारण चिंतित रहा करते थे। वे स्वभाव से बड़े दानी थे। उन्होंने एक बार कहा था "इस सम्पत्ति ने मेरे पूर्वजों को खा लिया, पर मैं इसे खा जाऊँगा।" और उन्होंने हिंदी-साहित्य के उत्थान के लिए अपने तन, मन तथा धन, सबको अर्पण कर दिया। इसी आत्म-त्याग के कारण आज भी हिन्दी-संसार उनका आभारी है।

भारतेन्दुजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। जितनी उन्होंने कविता की उतना ही गद्य लिखा। यहाँ हम केवल उनके कवि के स्वरूप को लेते हैं।

भारतेन्दु बाबू ने अपनी प्रतिभा के बल पर रीति-काल की शृंगारी कविता के साथ-साथ, प्रथम बार देश-भक्ति तथा समाज-सुधार की कविता की। उन्होंने कृष्ण-भक्ति के साथ सुन्दर शृंगार का समावेश किया। उन्होंने देशवासियों को अँगरेजी सरकार के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा करने का मंत्र दिया। जिस 'असहयोग' तथा 'देशी आन्दोलन' के द्वारा युग-पुरुष महात्मा गाँधी ने स्वराज्य प्राप्त किया, उसका राग सर्वप्रथम भारतेन्दुजी ने छेड़ा था। गदर के बाद हिन्दू, हिन्दी

तथा हिन्दुस्तान की अवस्था को सुधारने का उन्होंने बीड़ा उठाया तथा अपने ध्येय में वे पूर्णरूपेण सफल रहे। कविता के द्वारा उन्होंने जन-समाज से कुरीतियों को निकालने का स्वर ऊँचा किया। वल्लभी सम्प्रदाय के होते हुए भी अपनी निर्भीकता के बल पर उन्होंने मठाधीशों का भण्डाफोड़ किया। वे इतने प्रगतिगामी तथा साथ ही साथ कट्टर वैदिक हिन्दू थे कि उन्होंने आर्य समाज के गुणों को स्वीकार किया और उसके मेल से पाखण्ड का नाश करके प्राचीन भागवत धर्म को फिर से जिलाना चाहा। किन्तु भारतेन्दु जितना करना चाहते थे उतना न कर सके। भगवान् को उनकी आवश्यकता पड़ी और उन्हें अल्पायु मे ही बुला भेजा। रीति-काल के बाद एकदम इतने भावों पर कविता करने वाले भारतेन्दुजी ही थे।

प्रथम भारतेन्दुजी ने समझा था कि अँग्रेज़ी राज्य मुसलमानों से अच्छा रहेगा, किन्तु बाद को उसके दोष उन्हें दीखने लगें। दासता की बेड़ियों का भार सर्व प्रथम उन्हें ही अनुभव हुआ। भारतेन्दुजी ने देशवासियों को अपना प्राचीन गौरव, वीरत्व तथा शौर्य और बलिदान याद दिलाया। चित्तौर तथा इन्द्रप्रस्थ की याद दिला कर उन्होंने भारतीयों को जगाया। कविता मे भावों का इतना वैविध्य हमें आधुनिक कवियों मे किसी में नहीं मिलता। भारतेन्दु का निर्मल प्रकाश भारतवासियों के हृदय को मधुर आलोक से विभूषित कर गया।

भारतेन्दुजी ने कविता के भावों को नहीं बदला वरन् रीति-काल से चली आती रीति-बद्ध भाषा को मुक्ति दी। भाषा में जो प्राचीन भाव आगये थे उन्हें निकाल कर उसका

परिष्कार किया। कविता उन्होंने प्राय: सब ब्रजभाषा में की, किन्तु उसमें उपयुक्त उर्दू के शब्द भी उन्होंने आने दिये। भारतेन्दुजी ने गीत, कवित्त, सवैये, दोहे, कुण्डलियाँ; तथा लोकप्रिय लावनियाँ और गजलें, सब लिखीं। उन्होंने कविता को रईसों के दरबार से त्राण दिलाकर जन-साधारण की वस्तु बनाया। भारतेन्दुजी ने अनेक फुटकर रचनाएँ कीं तथा गद्य-पद्य में ग्रन्थ भी लिखे। भारतेन्दुजी ने अलङ्कारों का प्राचीन पद्धति पर परन्तु बड़ी स्वच्छता तथा सरलता से, प्रयोग किया। कृष्ण-काव्य में अलंकारों की बड़ी मनोरम छटा उन्होंने दिखाई।

शैली के विषय में भी भारतेन्दुजी ने बड़ा कार्य किया। शैली को नया रूप देकर उन्होंने उसे तत्कालीन समाज-रुचि के अनुरूप बना दिया। भारतेन्दुजी का स्थान भारतवर्ष के इतिहास में राजनैतिक जागृति, सामाजिक सुधार, साहित्यिक उत्थान तथा धार्मिक प्रगति तथा अन्य सर्व प्रकार के क्षेत्रों में स्वर्णाक्षरों से लिखा हुआ है। वे अमर हैं।

कविता का उदाहरण:—

"हाय! यहै भारत भुवि भारी, सबही विधि सों भई दुखारी।
हाय! पंचनद! हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत॥
हाय! चितौर निलज तू भारी, अजहु खरो भारतहिं मझारी।
तुममें जल नहिं जमुना गङ्गा, बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा?
बोरहु किन झट मथुरा कासी, धोवहु यह कलंक की रासी॥

इसमें उलाहने द्वारा देशवासियों के हृदय में दासता के प्रति विद्रोह की ज्वाला जलाने की वह चिनगारी है, जिसने आज सर्वस्वाहाकारी भीषण ज्वाला का रूप धारण करके दासता के बन्धन काटे हैं।

(२) श्रीधर पाठक

(सं० १९३३ से १९८५)

"नाना कृपान निज पानि लिए, वपु नील वसन परिधान किए
गंभीर घोर अभिमान हिए, छकि पारिजात मधुपान किए
छिन-छिन पर जोर मरोर दिखावत, पल-पल पर आकृति को
झुकावत"

× × × ×

"विजन वन प्रांत था, प्रकृति मुख शांत था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिसा में लसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा॥"

ऊपर के उद्धरणों को देखने से अनायास ही नूतनत
प्रदर्शित हो जायगी। भाव, भाषा, तथा छंद और काव्य
गुण प्रत्येक प्रकार से ये दोनों उद्धरण इससे पहले की कवित
से भिन्न हैं। इनके रचयिता थे श्रीधर पाठक। इनका जन्
सं० १९३३ में हुआ तथा मृत्यु सं० १९८५ में। इन्होंने प्रवेशिक
तथा अँगरेजी मिडिल की परीक्षाएँ पास कीं। दोनों परीक्षाओं
में वे प्रान्त भर में प्रथम रहे। एन्ट्रेंस की परीक्षा भी इन्हों
प्रथम श्रेणी में पास की। कलकत्ते में इन्होंने नौकरी करन
आरम्भ किया और सात-आठ वर्ष में ही इन्हें ३००) मासिक
वेतन मिलने लगा। यू० पी० के गवर्नर के दफ्तर में वे
सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। इसी पद पर पेन्शन तक रहे। इसी नौकरी
के कारण इन्हें कई बार नैनीताल तथा काश्मीर जाना पड़
और उनका प्रकृति-प्रेम दृढ़ होता गया।

आरम्भ में उन्होंने अँगरेजी तथा संस्कृत से अनुवा
करना शुरू किया। उन्होंने कई अनुवाद किये तथा मौलिक

ग्रन्थ लिखे। "भारत गीत" तथा "काश्मीर सुषमा" उनमें प्रधान हैं। पाठकजी का प्रधान विषय था प्रकृति-वर्णन। भारतेन्दुजी ने भी प्रकृति का वर्णन केवल आलंकारिक रूप में ही किया था और पाठकजी से पहले किसी ने भी प्रकृति का भावपूर्ण वर्णन नहीं किया था। पाठकजी प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ सामयिक समस्याओं के सुझावों पर तथा धर्म सुधार आदि सुधारवादी विषयों पर भी कविता करते थे। पाठक जी का नाम हिन्दी के कवियों में प्रथम स्वच्छन्दता वादी के रूप में लिया जाता है। वे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के बड़े उच्च कवियों में से हैं और विशेषता यह है कि कभी उन्होंने 'वादी' होने का दावा नहीं किया। 'एकान्त वासी योगी' लिखकर उन्होंने खड़ी बोली के काव्य में नूतन पथ दिखाया। ग्रामीण तथा साधारण स्त्रियों को भी प्रिय उस काव्य को बना कर उन्होंने नयी रीति चलाई। काव्य को जन-साधारण का बनाया, छंद तक उसका उन्होंने लावनी रखा। जैसा कि हमें ऊपर दिये हुए उद्धरणों से देखने को मिलता है, पाठकजी ने बड़ी भावपूर्ण प्रकृति-कविता की है।

उन्होंने सर्व प्रथम प्रकृति के मानवी रूप तथा उसके वास्तविक सौंदर्य को कविता में स्थान दिया। सीधी-सादी बोली में कविता करके पाठक जी ने अपने पूर्ण स्वच्छन्दता-वादी पथ का निर्देश किया और आज के कवि उन्हीं के दिखाये मार्ग पर चल रहे हैं।

पाठक जी ने प्रथम बार खड़ी बोली में भावपूर्ण कविता करके इस बात को गलत साबित कर दिया कि ब्रज को छोड़ कर खड़ी बोली में कोमल भावमयी कविता हो ही नहीं

सकती। छंदों के विषय में भी उन्होंने स्वातन्त्र्य का प्रदर्शन किया। उन्होंने न केवल जन-साधारण-प्रिय छंदों (लावनी आदि) का प्रयोग किया, वरन् अनेक मधुर लय तथा ताल-पूर्ण छंदों का निर्माण किया। छंदों की नवीनता, तथा साथ-साथ में छंदों का माधुय और लय का प्रवाह अपने सुन्दर रूप में उनकी कविता में दिखाई पड़ेगा। पाठक जी को छंद, पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास आदि के सम्बन्ध में नित नूतन बंदिशें तथा कल्पानाएँ सूझा करती थीं, और वे उन्हें निर्भीकतापूर्वक कार्यरूप में परिणत कर देते थे। यही उनकी स्वच्छन्दता थी जिसका उस समय कुछ प्राचीनता-प्रेमियों ने विरोध किया था, किन्तु पाठकजी अटल रहे। जब द्विवेदीजी के अनुरोध से कविगण खड़ी बोली में कविता करने लगे, तथा इतिवृत्तात्मक (Matter of tact) कविता का शुष्क ढेर हिन्दी में लगने लगा तब पाठकजी ने अपने प्रतिभा से काव्य की नाव को उबारा। पाठक जी ने अँगरेजी के समान अनुप्रास-रहित कविता भी की थी।

पाठकजी अलंकारों को विशेष महत्त्व न देते थे। हाँ, जो काव्य-चमत्कार अपने आप आ जाते हैं उनका उत्कर्ष उनमें अवश्य है।

---

(२) अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

(सं० १९२२ से २००५)

(१)

"रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका, राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वङ्गी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली॥"

(२)

"धीरे-धीरे दिन गत हुआ, पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा फिर गत हुई, दूसरा वार आया॥
यों ही बीतीं विपुल घटिका, औ' कई वार बीते।
आया कोई न मधुपुर से, औ' न गोपाल आये॥"

(३)

"क्यों पले पीस कर किसी को तू, है बहुत पालिसी बुरी तेरी
हम रहे चाहते पटाना ही, पेट तुझसे पटी नहीं मेरी॥"

× × × ×

ऊपर के उद्धरणों के रचयिता उपाध्यायजी का जन्म सं० १६२२ में आजमगढ़ जिले में हुआ था। ये काशी के क्वींस कालेज में शिक्षा के लिए भर्ती हुए किंतु अधिक समय तक वहाँ न पढ़ सके, स्वास्थ्य ने साथ न दिया। संस्कृत तथा उर्दू घर पर ही आपने पढ़ी। गाँव के मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गए। उसके बाद आप कानूनगो हो गये और इस पद से अवकाश लाभ करने के बाद काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अवैतनिक रूप से पढ़ाने लगे। अपनी अवस्था के तकाजे से आपने विश्राम करना तथा साहित्य सृजन करना आरम्भ कर दिया, और अंत तक करते रहे। उपाध्यायजी का नाम प्रबंध रूप में कृष्ण-कव्य लिखने के कारण सदा स्मरणीय रहेगा। अब तक कृष्ण-काव्य में केवल फुटकर रचनाएँ (छंद, गीतादि) हुआ करती थीं। हरिऔधजी ने 'प्रिय-प्रवास' नामक काव्य लिखकर कृष्ण तथा राधा को जगत् की भलाई में तत्पर एक आदर्श पुरुष तथा नारी के रूप में दिखाया। भगवान् कृष्ण के जगत्-हितकारी रूप में तथा प्रबंध-काव्य के नायक के रूप में यह प्रथम दर्शन थे।

उपाध्यायजी ने सीता के वनवास पर वैदेही वनवास' नामक एक सुन्दर रचना और की। इससे उनके भारतीय संस्कृति के पोषक होने का पता चलता है। 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे', 'प्रद्य प्रसून,' 'पारिजात' आदि आपकी अन्य रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त आपने फुटकर कविताएँ भी लिखी हैं।

उपाध्यायजी ने कृष्ण के विरह मे गोपियों, तथा राम के विरह में सीता, दोनों का वर्णन किया किन्तु दोनों में विशेषता यह है कि उनमें जगत् के हित की मात्रा तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना पर्याप्त मात्रा में है। उपाध्यायजी ने अपने 'वैदेही वनवास' में स्वतंत्र तथा सुन्दर प्रकृति-चित्रण भी किया है। यद्यपि पाठकजी के समान वह चित्ताकर्षक नहीं है, फिर भी प्रकृति का मानवीकरण होने के कारण उसमें एक विशेष लालित्य है। उपाध्यायजी ने प्रबन्ध-काव्यों में अपने चरित-नायकों का सुन्दर चरित्र-चित्रण किया है। कोमल भावनाओं के वर्णन में वे अद्भुत हैं किन्तु एक बात कभी-कभी खटकती है —वे एक भावना को इतना खींचते चले जाते हैं तथा उसमें वास्तविकता लाने का इतना प्रयत्न करते हैं कि वह कभी-कभी गद्यात्मक हो जाती है।

उपाध्यायजी ने ब्रज तथा खड़ी बोली दोनों भाषाओं में कविता की है। खड़ी बोली मे प्रथम उन्होंने अत्यन्त दुरूह समासयुक्त भाषा का प्रयोग किया है, जैसा कि ऊपर के प्रथम उद्धरण में देखा जा सकता है। उसके बाद से सरल तथा जनसमाज-गम्य भाषा पर उतर आये। इस प्रकार की उनकी कविता (दूसरा उद्धहरण) अत्यन्त मनोहारिणी हुई है। बाद में उन्होंने कविता को सरल बनाने के लिए भाषा को और

नीचे उतारा ; इससे कहीं-कहीं बड़ी भद्दी उक्तियाँ उनकी कविता में आ गयीं। 'वैदेही वनवास' में एक छंद की प्रथम पंक्ति है, "आपकी कृपा के बल से सब कुशल है।' इस पंक्ति में न लय है, न कविता। यह दोष उसी समय आया जब उपाध्यायजी ने कृत्रिमता को अपनाया, तथा काल के 'वादों' के प्रति ध्यान दिया, अन्यथा अपने रूप में वे बड़े उज्ज्वल हैं। उन्होंने उर्दू की बराबरी करने के लिए तथा यह दिखाने के लिए कि हिंदी में भी मुहाविरेदार कविता हो सकती है, 'चौपदे' लिखे। तीसरा उद्धरण उस मुहाविरेदार कविता का है। भाषा के विषय में हरिऔधजी ने नये-नये परीक्षण किये और भाषा के वैविध्य को अपनी कविता में दर्शाया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे द्विवेदी-काल की कविता से लेकर अब तक की कविता में कालानुकूल योग देते हैं। समय को पहचानने की इस शक्ति के कारण उनकी कविता अब भी चलती है।

छन्दों के विषय में उन्होंने संस्कृत का किसी सीमा तक अनुगमन किया है। उन्होंने वर्णिक छंदों का प्रयोग करके अपनी कविता को समयानुकूल बनाया तथा साथ ही साथ प्राचीनता को भी अक्षुण्ण रखा। उन्होंने नूतन छंदों की उद्भावना की तथा संस्कृत के समान अतुकांत छन्दों में भी पूर्ण सफलता दिखाई। इस नूतनता के कारण भी उनके काव्य को जीवन मिला। अलंकार के विषय में उपाध्यायजी प्राचीनता के पोषक होते हुए भी आधुनिक अभिव्यक्ति को अपनाते हैं। उपमाएँ उन्हें प्रिय हैं। उपमाओं में औचित्य लाने के लिए 'ता' लगाकर विशेषण बनाते हैं। 'भरिता', 'लसिता' आदि इसके उदाहरण हैं। इन शब्दों का प्रयोग वे बहुधा करते

हैं। अपनी कविता में उन्होंने चमत्कार को स्थान नहीं दि
है। जितनी भी राम-कृष्ण विषयक चमत्कारी घटनाएँ
उन सबका उन्होंने कोई पार्थिव कारण खोज निकालने
प्रयत्न किया है। यह उनकी आधुनिकता की धुन है।

आधुनिक तथा प्राचीन दोनों परिपाटियों का प्रतिनिधि
वे करते हैं।

---

(४) 'रत्नाकर'

(सं० १९२३ से १९८९)

वाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का ज़न्म काशी में
१९२३ में हुआ था। इनके पिता का नाम बाबू पुरुषोत्तमद
था। वे स्वयं फारसी के बड़े विद्वान् थे तथा उन्होंने अपने
को भी इसे सिखाया। रत्नाकरजी ने उर्दू से कविता कर
आरम्भ की तथा उसकी भाव-विगलित अवस्था से वे धीरे-ध
व्रज के माधुर्य की ओर बढ़े। वे अयोध्या-नरेश के प्राइ
सेक्रेटरी भी रहे थे। इसी पद पर वे अन्त तक रहे।

यद्यपि रत्नाकरजी अँगरेजी के अच्छे विद्वान् थे, उन्हों
सर्वदा हिंदी तथा भारतीयता की ओर विशेप प्रेम दिखाय
व्रजभापा को जब लोगों ने एकदम त्याग-सा दिया था त
उसकी आत्मा में रत्नाकरजी ने जीवन फूँका। विशेष
रत्नाकरजी की यह थी कि व्रजभापा की प्राचीन परिपा
के वे कट्टर अनुयायी रहे, और साथ ही साथ अँगरेजी त
उर्दू की कविता की विशेपताएँ भी अपनी कविता में रख
गये। चित्रोपमता तथा हावभाव के वास्तविक चित्रण
रत्नाकरजी को कोई आधुनिक कवि नहीं पाता।

उन्होंने 'गंगावतरण', 'उद्धवशतक,' 'हिंडोला', 'हरिश्चंद्र काव्य' तथा अन्य छुट-पुट कविताएँ रची थीं। इनमें से 'उद्धवशतक' तथा 'गंगावतरण' ही उनकी कीर्ति के स्तम्भ हैं। 'हिंडोला' में उन्होंने ग्राम-वधुओं के झूला झूलने का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। 'गंगावतरण' में प्रकृति-चित्रण की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया, और सफलतापूर्वक उसे निभाया। सूरदास, नंददास आदि ने जो भ्रमर गीत लिखे उन्हीं की परम्परा में रत्नाकरजी ने 'उद्धवशतक' लिखा है। कृष्ण जब मथुरा चले गये और बहुत दिनों तक न लौटे तब गोपियाँ तथा राधा उनके विरह में अत्यंत दुःखित रहने लगीं। कृष्ण ने अपने सखा उद्धव को दूत बना कर भेजा। उद्धव ने गोपियों को निर्गुण उपासना का उपदेश दिया। गोपियों द्वारा फिर प्रत्येक कृष्ण-काव्य रचयिता ने निर्गुण का खण्डन तथा सगुण का मण्डन करवाया है। एक भ्रमर को सम्बोधित करके गोपियों ने उद्धव को खूब खरी-खोटी सुनाईं। इसी कथा को लेकर 'उद्धवशतक' लिखा गया है। वह प्रबंध-काव्य नहीं कहा जा सकता, फुटकर छंदों को (जो कि समय-समय पर लिखे गये) कवि ने क्रम से एकत्रित कर दिया है। विशेषता यह है कि अनेक छंद अपने में पूर्ण होने पर भी एक साथ पढ़ने पर कथारूप में प्रतीत होते हैं। 'रत्नाकरजी' ने अपनी कविता में कोमल भावों तथा वियोग के सुन्दर उलाहनों का आधुनिक तर्कपूर्ण पद्धति में प्रयोग किया है। हाव-भावों का जितना स्वाभाविक वर्णन 'रत्नाकर' में है उतना आज के प्रगतिशील कवियों में मिलना कठिन है।

"कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि झौरि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवनि तवै लगीं।

उझकि उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं ॥
'हमकों लिख्यो है कहा' 'हमकों लिख्यो है कहा'
'हमकों लिख्यो है कहा' कहनि सवै लगीं ॥"

× × × ×

चलत विपम ताती वात व्रज-वारिनि की,
विपति महान् परी ज्ञान-वरी वाती पै।
लच्छ दुरे सकल, विलोकत अलच्छ रहे,
एक हाथ पाती एक हाथ दिये छाती पै ॥"

उपर्युक्त उद्धरणों के देखने से उनकी भाव-तन्मयता तथा हाव-चित्रण स्पष्ट हो जायगा।

व्रजभापा के प्राचीन रूप को अपने समय के चलते हुए शब्दों तथा काशी के कुछ शब्दों (जो कि दोप हैं) से युक्त करके उन्होंने एक अनिर्वचनीय प्रभाव-शक्ति तथा भापा का जोड़-तोड़ उत्पन्न किया है। भापा के दॉव-पेच तथा उसके सामान्य रूपों की पुनरुक्ति करके उन्होंने वड़ा आकर्पक रूप कविता को दिया। प्रथम उद्धरण में एक वात को तीन वार कह कर उन्होंने एक विशेप चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। 'रत्नाकरजी' की एक विशेपता यह भी थी कि वे अपने छंदों की गठन पर सर्वदा ध्यान देते थे, वार-वार दुहरा कर उसे उसके चरम उत्कर्प पर पहुँचा देते थे। कुछ प्राचीन रीति-कालीन कवियों के समान छंद की केवल अन्तिम पंक्तियों में ही सौंदर्य न होकर उनके सम्पूर्ण छंद में भाव-प्रवणता पाई जाती है।

"कहैं रतनाकर कहति सव हा-हा खाइ,
हॉ के परपंचन सों रंच न पसीजियो।

आँसु भरि एहैं औ उदास मुख ह्वै हैं हाय,
ब्रज-दुख-त्रास की न ताते साँस लीजियो।
नाम को बताइ, औ जनाइ गाम ऊधौ बस,
स्याम सों हमारी राम-राम कहि दीजियो॥"

उपर्युक्त छन्द में अपने प्रिय को अपने दुःख से दुःखित न करने की कितनी कोमल भावना है। यदि कृष्ण को हम से प्रेम है तो हमारा नाम, गाम, तथा 'राम-राम' सुनकर ही वह सब समझ जायँगे। यह रत्नाकर का चमत्कार है।

रत्नाकरजी को बड़े-बड़े सांग-रूपक अत्यन्त प्रिय थे। प्राचीन परिपाटी के अनुसार उन्होंने बड़े-बड़े रूपक बांधे हैं। यही उनका सबसे बड़ा गुण है। इतने सुष्ठु रूपक हमें तुलसी तक में नहीं मिलते। सांगोपांग उचित तथा वास्तविक वर्णन उनके प्रत्येक रूपक में ऐसा भरा है कि वह भाव के उत्कर्ष में सदा सहायक होता है। रत्नाकर के समान तुला हुआ अलङ्कार-प्रयोग रीति-कालीन कवि भी न कर सके। रत्नाकरजी ने सवैये आदि छन्दों में ही कविता की। इस विषय में नूतनता प्रदर्शन का व्यर्थ आग्रह उनमें न था। उन्होंने प्राचीन का नूतन संस्करण किया तथा उसे चमका कर छोड़ दिया।

---

(५) मैथिलीशरण गुप्त

(जन्म सं० १९४३)

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
अंचल में है दूध और आँखों में पानी"॥

(यशोधरा)

उपर्युक्त प्रसिद्ध पक्तियों के कवि, राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म स० १९४३ में चिरगाँव (झाँसी) में हुआ था। भगवत् प्रेमी तथा हिन्दी कविता के प्रिय श्री सेठ रामचरणजी के पुत्र रूप में आप जन्मे थे। भारतेन्दु की भाँति आपको भी प्रसिद्ध कवि होने का आशीर्वाद अपने पिता से मिला, जब कि आपने एक छंद अपने कविता-प्रेमी पिता की कापी में लिख दिया था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद गुप्तजी झाँसी पढ़ने गये किंतु शीघ्र ही लौट आये और घर पर स्वाध्याय में संलग्न हो गये। इनकी कविताएँ पत्रिकाओं में छपने लगीं और धीरे-धीरे साहित्यसेवियों के परम रक्षक तथा उत्साह-वर्धन करने वाले पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान गुप्तजी की ओर आकृष्ट हुआ। बस यहीं से उन्होंने राष्ट्र-कवि का पदवी की ओर चढ़ना आरम्भ कर दिया।

गुप्तजी तुलसी की परम्परा के परम राम-भक्त हैं। आप रामायण-विषयक अनेक काव्य लिख चुके हैं। प्रत्येक काव्य के आरम्भ में प्राचीन पद्धति पर राम-प्रार्थना के रूप में मंगलाचरण रखते हैं। गुप्तजी द्विवेदी-काल के प्रमुख कवि रहे तथा आधुनिकतावादी कवियों के आजकल के समय में भी उन्होंने विकास का साथ देकर अपना स्थान सुरक्षित रखा है। गुप्तजी ने 'भारत भारती' लिखकर स्वतन्त्रता के भूखे भारतीयों के हृदय में स्थान प्राप्त कर लिया। 'भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती' उनकी यह इच्छा भगवान् ने पूर्ण की और इसी राष्ट्रीय भावना को परिपक्वता तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें हिन्दी-संसार ने राष्ट्रकवि की पदवी से विभूषित कर दिया। गुप्तजी ने 'साकेत', 'यशोधरा', 'पंचवटी', 'जयद्रथ वध', 'सिद्धराज', 'नहुप', 'गुरुकुल', 'विकट भट' आदि अनेकों काव्य-

ग्रंथ लिखे। इनमें से प्रथम दो बड़े काव्य हैं। उपाध्यायजी का 'प्रियप्रवास' तथा गुप्तजी का 'साकेत' हिन्दी के आरम्भिक महाकाव्यों में से हैं। राम-भक्ति के साथ-साथ गुप्तजी ने कृष्ण-काव्य में भी हाथ बँटाया। 'द्वापर' लिखकर उन्होंने गोपियों की तथा राधा की विरह-कथा के मार्मिक उद्‌गारों को अमर कर दिया। वेदना की विवृत्ति (आधुनिकता के पोषकों के अनुसार) गुप्तजी ने बाद के अनेक काव्यों में दिखलाई है। प्राचीन कथाओं को महाभारत, रामायण आदि से चुन-चुन कर उन्होंने खड़ी बोली में अमर कर दिया। प्राचीन गौरव के पोषक गुप्तजी ने आधुनिक राष्ट्रीय प्रगति में पूर्ण भाग लिया। गुप्तजी अधिकतर दशा का वर्णन करके समस्या को सामने रख कर चुप हो जाया करते हैं। समाधान करके व्यर्थ के विवाद से बचने के लिए वे इस कार्य को पाठकों पर ही छोड़ देते हैं।

गुप्तजी ने आधुनिक काल की प्रवृत्ति के साथ-साथ कदम रखते हुए सुन्दर प्रकृति-वर्णन भी किया है। उपाध्यायजी के प्रकृति-चित्रण से गुप्तजी का प्रकृति-चित्रण कहीं अधिक स्वाभाविक तथा मनोरम है।

"इसी समय पौ फटी पूर्व में, प्रकटा प्रकृति नटी का रङ्ग।
किरण कंटकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग॥"

उपर्युक्त सरल तथा स्वाभाविक उषा-चित्रण में मनोहर कल्पना का समावेश उसे हृदय में घर कर जाने की शक्ति दे देता है। गुप्तजी ने केवल विरह-वर्णन, राष्ट्रप्रिय कविता तथा प्रकृति-चित्रण ही नहीं किया है, 'जयद्रथ बध' में उन्होंने करुणा के स्रोत बहाये हैं तथा वीर की चिनगारियाँ उचटाई हैं। अभिमन्यु की मृत्यु के उपरान्त अर्जुन के शोक-विह्वल

हृदय में वीर दर्प का प्रवेश (जयद्रथ की कपट चातुरी सुनकर) कितना सुन्दर दिखाया है :—

"श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूल कर करतल युगल मलने लगे॥
संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठ कर खड़े॥"

वीरों के मनोभावों तथा उनकी हृदय-विशालता का दृश्य देखना हो तो 'सिद्धराज' में जयसिंह का चरित्र देखिये। करुण रस से अपने हृदय का मार्जन करना हो तो 'यशोधरा' में गोपा को गाते हुए सुनिये :—

वेदने तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी॥

× × × ×

"जीर्ण तरी भूरि भार देख, अरी, एरी……"

समय के साथ चलते-चलते गुप्तजी आधुनिकतावादियों के रहस्यवाद तक चले आये और शैली की नवीनता के साथ उन्होंने छायावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का भी अनुगमन किया। प्राचीन पद्धति को आधुनिक बनाकर उन्होंने 'चम्पू' के समान यशोधरा का निर्माण किया। उसके स्वरूप निर्धारण में अब तक लोग दिमागपच्ची करते हैं। कोई उसे महाकाव्य, कोई नाटक और कोई खिचड़ी तक बताता है। इस प्रकार प्राचीनता में जन्म लेकर उन्होंने चमत्कारिक रूप से आधुनिक रीतियों को अपनाया।

"अच्छी आँख मिचौनी खेली।
वार-बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली।"

× × × ×

"पहले आँखों में थे, मानस में कूद, मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वहीं उड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे॥"

× × × ×

"रुदन का हँसना ही है गान।
रो रोकर हँसती है मेरे हृत्तन्त्री की तान॥"

उपर्युक्त उद्धरणों में उन्होंने रहस्यवाद तथा आधुनिक पद्धति के विरोधाभास का सुन्दर समावेश किया है। गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं। उन्होंने प्रत्येक प्रकार के विरोधी तत्वों को मिलाकर सुन्दर काव्य का निर्माण किया है। उनकी कविता में तीन श्रेणियाँ स्पष्ट झलकती हैं। प्रथम, उन्होंने भाषा की सफाई की ओर ध्यान दिया, फिर पदावली की सरसता तथा भावों में समयानुकूल परिवर्तन किया, उसके उपरान्त शैली को लाक्षणिक वैचित्र्य प्रदान किया। अन्तिम सीढ़ी पर आते-आते उन्होंने 'यशोधरा' रचा। शुक्लजी कहते हैं "प्रतिक्रिया अथवा प्रदर्शन करने वाले वे नहीं, मद में झूमने वाले कवि भी वे नहीं हैं, सर्व प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव तथा नवीन के प्रति उत्साह दोनों उनमें हैं।"

खड़ी बोली में उन्होंने सरल कविता की, और सरल खड़ी बोली में उन्होंने क्लिष्ट कविता करके भी दिखाई। भाषा में बड़े-बड़े भारी भरकम शब्दों का समास करके उन्होंने उसे क्लिष्ट नहीं बनाया है। सरल तथा दुरारूढ़ दोनों प्रकार के भाव तथा कल्पनाओं को सरल भाषा में व्यक्त करने की शक्ति उनमें है।

छंदों में नवीनता दिखाने में गुप्तजी किसी से पीछे न रहे। नये-नये तथा अत्यन्त लयपूर्ण छंदों का निर्माण उन्होंने किया। नीचे के छंद में त्वरित गति से जीर्ण नाव का अंधड़ में डाँवा-डोल गमन देखिये; छंद नौका के साथ फुदकता चलता है।

"सजनी उलटी बयार,
वेग धरे प्रखर धार,
पद पद पर विपद बार; रजनी घन घेरी।
जीर्ण तरी भूरि भार देख, अरी, एरी?
जाना होगा परन्तु,
खींच रहा कौन तंतु,
गरज रहे घोर जंतु; बजती भय भेरी
विजन पंथ दूर पार, और यह अँधेरी
जीर्ण तरी भूरि भार देख, अरी, एरी॥"

वात्सल्य भाव में उन्होंने माता-पुत्र का सुन्दर चित्रण किया है। "माँ कह एक कहानी" में बड़े कौशल के साथ एक दुःखिता नारी के पुत्र के प्रति वात्सल्य तथा पति की वियोग-भावना का अभूतपूर्व मिश्रण किया है।

क्या भाषा, क्या छंद, क्या शैली, क्या भाव, सब में गुप्तजी ने प्राचीन तथा आधुनिक दोनों धाराओं में श्रेष्ठता प्राप्त की है। आजकल अलंकारों का शास्त्रीय रूप तो मिट ही गया है, अतः अलंकार-निर्देशन आधुनिक कवियों का नहीं किया जाता। भावाभिव्यक्ति की नवीन पद्धतियों ने अलंकार-निरूपण का स्थान ले लिया है। अतः अलंकारों का चोला बदल गया है किन्तु वैचित्र्य के लिए कवियों तथा पाठकों में अब भी मोह है। आजकल विरोधाभास बड़ा प्रिय अलंकार

हो रहा है। गुप्तजी का स्थान हिंदी साहित्य में राष्ट्र-कवि के रूप में अचल है। वे द्विवेदी काल से अब तक की साहित्यिक गतिविधि तथा उन्नति के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

---

(६) 'प्रसाद'

(सं० १६४६ से १६६४)

महाकवि जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी में सं० १६४६ में हुआ था। आपके पिता काशी के प्रसिद्ध व्यापारी तथा कन्या-कुब्ज वैश्य थे। आप सुंघनी साहु के वंश में थे। अनेक प्रतिभावान् कवियों के समान प्रसादजी की शिक्षा भी स्कूल में बहुत कम समय तक हो सकी, और उन्होंने भी घर पर स्वाध्याय से सब कुछ प्राप्त किया। संस्कृत से तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति से उन्हें विशेष प्रेम था। उन्होंने आदि काल की प्रलय के समय की कथाओं को खोज-खोज कर कविता तथा नाटकों में रखा, यह उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। अध्ययन-प्रेमी होने के कारण उन्होंने बंगला तथा अँगरेजी पढ़ी और उनसे लाभ उठाया। पिता की असमय मृत्यु के कारण व्यापार का भार भी आपके ऊपर आ गया था। उसकी जैसी कुछ बन पड़ी देख-भाल उन्होंने की और
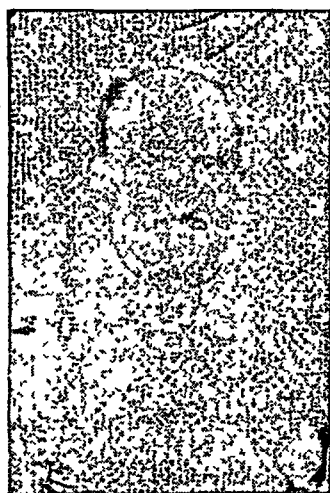
अपना समय साहित्य सेवा में लगाते रहे। प्रसादजी की मृत्यु असमय में हो गई अतः वे हिंदी संसार को जो कुछ देना चाहते थे न दे सके। प्रसादजी शिव के भक्त थे तथा शिव दर्शन में विश्वास करते थे। उनके तीन विवाह हुए तथा तीसरी पत्नी से उनके एक पुत्र हुआ जो अब भी उनके व्यवसाय को चला रहा है। प्रसाद की प्रकृति सात्विक थी। वे कसरत से प्रेम करते थे। अपनी जवानी में ५०० डंड तथा १००० बैठक वे लगाया करते थे। इसी पौरुष के कारण उन्होंने कविता में मनुष्य का आदर्श दृढ़ तथा हृष्ट-पुष्ट शरीर रखा है, आधुनिक प्रगतिवादियों के समान 'जनाना' नहीं। प्रसाद नौका-विहार के प्रेमी थे, पान खूब खाते थे तथा प्रतिदिन आधा सेर बादामों का सेवन करते थे। कवि-स्वभाव के अनुरूप उन्हें पुष्पों से विशेष प्रेम था। स्वभाव के अत्यन्त गंभीर तथा दानशील थे। भाग्य की विडम्बना! ऐसे पुष्ट वदन पुरुष की मृत्यु राजयक्ष्मा से हुई। वे रात-रात भर पढ़ा करते थे अतः हो सकता है उनकी यह तपस्या उन्हें ले बैठी।

आरम्भ में प्रसादजी व्रजभाषा में कविता किया करते थे। सं०१९७० के आस-पास वे खड़ी बोली में आये और ऐसी कविता कर गये कि आधुनिक काल को कुछ लोग प्रसाद-युग कहने में नहीं हिचकते। प्रसादजी की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी, उन्होंने निबन्ध कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटक सब कुछ लिखा और नाटकों में तो वे हिंदी मे सर्व श्रेष्ठ हैं। किन्तु विशेषता यह थी कि प्रसादजी प्रथम कवि थे, और उसके बाद कुछ और। आधुनिक रहस्यवादी तथा छाया वादी कवियों की परम्परा में प्रसादजी का स्थान सर्व प्रथम है। प्रसादजी ने मधुमय कल्पना की भरमार-सी कर दी।

करुण 'वेदना की विवृत्ति' का प्रसाद में भाण्डार था। उन्होंने प्रेमगीत तथा वेदना-वियोग के गीत अधिक लिखे। छायावाद तथा रहस्यवाद में उन्होंने कवियों को मार्ग दिखाया। उनका विश्वास था कि आत्मा का परमात्मा के प्रति जो अरूप प्रेम तथा स्वाभाविक आकर्षण होता है और जिसे कविता में रहस्यवाद कहते हैं, वह यूरोपीय वस्तु नहीं है, वरन् प्राचीन ऋषियों तथा भारतीय ग्रन्थों की चलाई हुई है। कुछ विद्वानों का मत इसके विरुद्ध है। प्रसादजी ने अपनी कविता मे छाया-चित्र; कल्पना तथा कोमल भावों का समावेश किया। दुरारूढ़ता तथा प्रतीक की क्लिष्टता के कारण उनकी कविता बहुधा अगम्य हो जाती है, तथा उसका मन-चाहा अर्थ निकाला जा सकता है। इसी। दोष (अथवा गुण) के कारण उनका आरम्भ में विरोध हुआ था।

प्रेम-वियोग के अतिरिक्त प्रसादजी ने मधुर कल्पना से युक्त प्रकृति-चित्रण किया है। उनके प्रकृति-चित्रण की विशेषता है—प्रकृति का मानवीकरण, जिसे लेकर बाद के कवि उड़ पड़े तथा अनर्गल कविता करना आरम्भ कर दिया।

"जगी वनस्पतियां अलसाईं
मुख धोती शीतल जल से॥"

\+ × × ×

"नेत्र निमीलन करती मानो, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियों की अँगड़ाई, बार बार जाती सोने।"

वनस्पतियों तथा प्रकृति का नारी के रूप में ऊपर का वर्णन प्रसाद के प्रकृति-चित्रण की विशेषता है। प्रसाद ने ससीम (आत्मा) के अस्तित्व को उस असीम (परमात्मा) से मिलाने के भाव में अनेकों भावनाएँ भर दीं। उनका वियोग,

उनका प्रेम, उनका सौन्दर्य सब कुछ ससीम से आरम्भ होता और उसका पर्यवसान सर्वदा असीम में होने लगा। उनकी प्रणय भावना भी असीम हो गई। यह असीमत्व की क्लिष्ट कल्पना कुछ विद्वानों को नहीं भाती। इन सब के उपरान्त प्रसाद ने दुःखवाद के दर्शन को अपनाया तथा उसका सामंजस्य कर्मवाद से कर दिया। संसार में सब अनित्य, दुःखकारी है किन्तु इस दुःख में भी सुख की रेखा केवल अपना कर्तव्य-पालन है। हम अपना कर्तव्य करें, फिर चाहे 'नियति (प्रसादजी नियतिवादी थे) हमारे भाग्य में सफलता रखे अथवा विफलता, हमें उससे कोई तात्पर्य नहीं। संसार के दुःख से पीड़ित होकर उन्होंने कुछ समय के लिए 'पलायनवाद' को भी अपनाया था।

"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे"

संसार के दुःख से व उसके क्लेश से भाग जाने की, एकान्त में बैठकर कल्पना का आनन्द लेने की, भावना इसमें है।

प्रसाद ने अपनी शैली को पूर्णतया प्राचीन से भिन्न बना दिया। भारतेन्दु ने भावपक्ष को दूसरी ओर मोड़ा, द्विवेदीजी ने भाषा को सुधारा तथा प्रसाद ने शैली में अचानक परिवर्तन कर दिया। कहा जाता है कि यह बंगाल से आया हुआ अँगरेजी का प्रभाव है। शैली में चित्रोपमता तथा एक विशेष असूझ रहस्य-भावना का प्रतिपादन उन्होंने किया। प्रसादजी को असीम तथा अनन्त से प्रेम था अतः उन्होंने अधिकतर अपनी उक्तियाँ आकाश तथा समुद्र से ली हैं। नाविक, असीम सागर तथा नीडोन्मुख पक्षी और अनन्ताकाश उनके प्रिय कल्पना-प्रसूत भाव थे। नीचे चित्रोपम शैली में मानवीकरण-कृत प्रकृति का चित्रण दर्शनीय है :—

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही तारक घट ऊषा नागरी ॥"

आधुनिक काल में छंद के बन्ध तो टूट ही गये थे अतः प्रसादजी ने अतुकान्त तथा अन्य अनेकों प्रकार के छंदों की रचना की। पहले कहा जा चुका है, आधुनिक समय के प्रिय अलंकार (भावाभिव्यक्ति की पद्धतियाँ) विरोधाभास तथा अप्रस्तुत कल्पना हैं। प्रसादजी ने अपनी कविता में इनका बहुधा प्रयोग किया है। प्रसादजी ने भाषा के विषय में अपनी बड़ी निखरी हुई मनोवृत्ति का परिचय दिया। भारतीयता तथा प्राचीनता के वे प्रेमी थे अतः उन्होंने अपनी भाषा में प्रयत्नपूर्वक कभी भी उर्दू आदि विदेशी भाषाओं के शब्द नहीं आने दिये। यही नहीं, उन्होंने सामान्य हिन्दी शब्दों के स्थान पर, शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया। जहाँ सामान्य प्रचलित उर्दू शब्द का समानार्थक उन्हें हिन्दी में न मिला, वहाँ उन्होंने तत्काल प्राचीन ग्रन्थों में से संस्कृत का शब्द खोज निकाला। वे रेती अथवा बालुका के स्थान पर 'सिकता' का प्रयोग करना पसन्द करते थे। भाषा के इस उच्च (अथवा अगम्य) रूप के कारण प्रसाद में कभी-कभी प्रसादगुण का अभाव पाया जाता है। प्रथम बार पढ़ने पर उच्च हिंदी के विरोधाभास-युक्त शब्दों के जाल में से पाठक अर्थ को निकालने में असमर्थ असहाय-सा रह जाता है।

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल,
वह विश्व मुकुटसा उज्ज्वलतम,
शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो-पद्म पलाश चषक से दृग,
देते अनुराग-विराग ढाल ॥

उद्धरण में सौन्दर्य तथा अरूप कल्पना और का सुन्दर उदाहरण है। अरूप से रूप की उपमा तथा रूप स अरूप की उपमा भी प्रसादजी की विशेषता है। केश मानों तर्क जाल से विखरे थे।

प्रसादजी का स्थान हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में सर्वोपरि है।

---

(७) 'निराला'

(जन्म सं० १९५३)

विद्रोह भावना से ओतप्रोत, मनमौजी कवि पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म सं० १९५३ में बँगाल के मेदिनीपुर जिले में हुआ था। हिन्दी का यह कवि बँगला का अच्छा ज्ञाता है। इनके पिता का नाम पंडित रामसहाय त्रिपाठी था। वे उन्नाव जिले के निवासी थे। निरालाजी की शिक्षा बँगला में ही आरंभ हुई और इस कारण उनकी कविता पर बँगला का प्रभाव है, यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये। निरालाजी हिन्दुत्व तथा भारतीयता के पोषक हैं। निरालाजी को संगीत तथा कुश्ती लड़ने से प्रेम है। वे दोनों कलाओं में सिद्ध हैं। धनी परिवार में उनका जन्म हुआ, तथा आर्थिक कष्ट उन्हें आरम्भ में बिल्कुल न था। पिता के स्थान पर महिपादल राज्य में वे नौकरी करने लगे। विवाह उनका १३ वर्ष की आयु मे ही हो गया। उनकी पत्नी विदुषी तथा संगीत-साहित्य से प्रेम रखने वाली थीं। उनसे निराला को प्रेरणा मिलती थी। अचानक २२ वर्ष की अवस्था में उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई और यहीं से निरालाजी के

जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन आ गया। नौकरी छोड़ दी, आर्थिक कष्टों से सामना करना पड़ा और वे अपने विशाल शरीर तथा दृढ़ व्यक्तित्व के पाथेय को लेकर संघर्ष के पथ पर निकल पड़े। चारों ओर से विरोध उन्हें मिला और प्रत्येक प्रकार की रीति (चाहे भली चाहे बुरी) के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया। आगे चलकर अपने दानी, जिद्दी तथा विद्रोही स्वभाव के कारण, जिसमें एक विशेष कोमलता थी, उन्हें बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। आजकल वे अर्द्ध विक्षिप्त से हैं। किंतु इस पागलपन की अवस्था में भी उन्होंने कॉंग्रेस सरकार की दी हुई सहायता के धन को एक दु:खी विधवा को दे डाला। अपने ब्राह्मणत्व को वे विक्षिप्तावस्था में भी नहीं भूले। कहा जाता है कि सब प्रकार के नशे (केवल नीति से विद्रोह दिखाने को) करने के कारण इस विकट पण्डित तथा अनुपम कवि की यह दशा हो गई है। भगवान् उन्हें शान्ति दे।

निरालाजी ने अपनी कविता में प्रणय के मधुर तथा ऐन्द्रिक रूप को लिया है। उन्होंने परमहंस रामकृष्ण तथा विवेकानन्द के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है और इनका समावेश अपनी रहस्यवादी प्रणयानुभूति में खूब किया है। रहस्यवादी तथा छायावादी कवियों में निराला प्रसाद के साथ हैं। इनकी प्रतिभा भी सर्वतोन्मुखी है। नाटक, कविता, निबन्ध, उपन्यास, कहानी आदि खूब लिखे, और नूतन विषयों पर लिखे। कुकरमुत्ता, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा, चतुरी चमार, चोटी की पकड़, तथा भीम, राणा प्रताप जैसे विभिन्न विषयों पर इन्होंने लिखा है। विषयों के चुनाव में भी विद्रोही निराला का स्वरूप परिलक्षित होता है।

सङ्गीत को काव्य के, तथा काव्य को सङ्गीत के निकट

लाने का सबसे अधिक प्रयत्न निरालाजी ने किया है। गीतों में उन्होंने पूरा-पूरा जौहर दिखाया, अपने गीतों को ताल, लय तथा राग-रागिनियों से पूर्ण करके उन्होंने रचा और खड़ी बोली मे शब्दों तथा मात्राओं का स्वेच्छानुसार प्रयोग करके उन्होंने एक समस्या उत्पन्न करदी। उन्होंने स्वयं कहा था "गवैयों की जवान को सख्त परेशानी होगी।" उनकी 'गीतिका' में, जिसमें कि उनके छोटे-छोटे गीतों का संग्रह है, उन्होने ऐसी कविताओं को ही रखा है जिनमें अर्थ की अपेक्षा सङ्गीत की ओर अधिक ध्यान है :—

'मधुर निकर कलरव भर,
गीत-मुखर पिक प्रिय स्वर,
स्मरशर पर हर केसर-झर,
मधुपूरित गन्ध, ज्ञान।"

कहीं-कहीं कवि ने बड़े पेचीले अर्थ रखने का प्रयास किया है तथा विभिन्न पद योजना के कारण वह अस्पष्ट हो गया है।

"कौन तम के पार (रे कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग
गगन-घन-घन धार (रे कह)"

निरालाजी की-'शेफालिका', 'सन्ध्या' आदि कविताएँ उनकी चित्रमयता तथा भावपूर्ण वर्ण-योजना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। आधुनिक प्रगतिगामी कवियों की रीति है कि वे रीति-कालीन कवियों को रूढ़िवादी कहकर धिक्कारते हैं तथा अश्लील शृङ्गार के लिए उन्हें बुरा बताते हैं, किन्तु आज की उनकी यथार्थवाद की प्रवृत्ति कविता में और भी अश्लीलता को स्थान दे रही है। निरालाजी भी इस प्रकार ऐन्द्रिक तथा घोर शृङ्गारी कविता कर जाते हैं। उनकी वासना अतृप्त

रह गई, उनका यौवन भीषण सङ्घर्ष में कुचला गया, उनकी प्रणय भावना मुकुलित होते-होते मुरझा गई, इसी कारण इस उद्गार भरे कवि की प्रकृति घोर शृङ्गारी हो गई। जो जगत् में न मिला उसे कल्पना में पाने का प्रयत्न उन्होंने किया। इसी भावना से प्रेरित होकर 'कुल्ली भाट' के समान गन्दे ग्रन्थ उन्होंने लिखे। इससे पूर्व निराला जो लिख गये उसी से उन्हें आँकना चाहिये।

निरालाजी लय तथा तान के सम्राट् हैं और उनके लिए उन्होंने बँगला की पदावली तथा लाक्षणिकता का प्रयोग किया है। उनकी भाषा बड़ी प्रवाहपूर्ण तथा कभी-कभी विचित्र हुआ करती है। उन्होंने "निशा-प्रिय-उर-शयन-सुख-धन" के समान समासयुक्त पदावली तक का प्रयोग किया है। तथा छन्दों में वैचित्र्य लाने के लिए उन्होंने एक-एक शब्द की पंक्तियों वाले काव्य की रचना की है। भाषा की इस नवीनता तथा लालित्य के साथ-साथ उन्होंने छन्दों में एक विशेष क्रान्ति उत्पन्न करदी। यथार्थ की झोंक में उन्होंने भाषा का यह रूप भी अपनाया :—

"अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू रंगो आब"

इसमें विदेशी शब्दों का तथा नितान्त चलते हुए शब्दों का प्रयोग है। छन्द भी उन्होंने नये नये निकाले। अन्य कवियों की भाँति उन्होंने केवल नये छन्द रचे ही नहीं वरन उनके नाम तक रखवा डाले—जैसे, "रबड़ छन्द" "केंचुआ छन्द।" ये छन्द अत्यन्त टेढ़े-मेढ़े तथा अनियमित रहते हैं। यदि कोई और कवि हो तो केवल नूतनता प्रदर्शन करके ही रह जाता, किन्तु प्रतिभावान् निरालाजी ने नये-नये छन्दों में

अपने सङ्गीत-ज्ञान तथा ताल-लय प्रेम के कारण एक विशेष प्रवाह उत्पन्न कर दिया, जिसके कारण उन्हें पढ़ने में लय का आनन्दाभास होता है।

समाज के बन्धन भी निरालाजी को वैसे ही अरुचिकर हैं जैसे कि काव्य के। उन्होंने एडवर्ड अष्टम को प्रेम-वीर के रूप में अपनी कविता में रखा। और उसे बन्धन-मुक्ति-प्रयास का एक उदाहरण माना। इस विद्रोह की भावना में निराला का चरित्र झलकता है। हम उन पर झुँझलाते हैं। किंतु जब निरालाजी एक 'भगत' से जो कि कङ्काल भिक्षुक को भूख से तड़पता छोड़कर बन्दरों को मालपुए खिलाता है, घृणा करते हैं, तब हम उस निराला के निराले हृदय पर मोहित हुए बिना नहीं रहते। यदि निरालाजी के जीवन के आरम्भ में ही वज्रपात स्वरूप उनकी विदुषी पत्नी का देहान्त न हुआ होता तो आज हमारे कवि का क्या रूप होता कह नहीं सकते।

एक मार्के की बात यह है कि कवि के जिस पुरुषत्व को प्रसाद ने निभाया (जो आगे से चला आ रहा था) उसे निराला ने भी निभाया। प्रसाद, निराला के चित्र दखिये, पौरुप की मूर्ति-से प्रतीत होंगे—पुष्ट शरीर तथा तेजमय आनन। इसके बाद से कवियों पर कुछ नारी रूप का प्रभाव अधिक जमना आरम्भ ह गया। पंतजी ने तो प्रेम-विवश हो यहाँ तक किया कि—

"सजाया प्रिये तुम्हारे हेतु
तुम्हारा ये अनुपम शृङ्गार
घने, रेशम से, काले बाल।"

(८) सुमित्रानन्दन पंत

(जन्म सं० १९५७)

अलमोड़ा से २५ मील दूर रमणीक कौसानी नाम स्थान पर एक जमींदार कुल में पंतजी का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम पंडित गंगादत्त पंत था। पंतजी के यहां जमीदारी का काम अब भी होता है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गॉव में हुई, उसके पश्चात् कुछ दिनों अल्मोड़ा पढ़ने के बाद वे काशी चले गये। वहॉ से उन्होंने स्कूल लीविंग (मैट्रिक) की परीक्षा पास की और प्रयाग मे म्योर सेंट्रल कालेज में भर्ती हो गए। यहीं से पंतजी की काव्य-साधना का आरम्भ होता है। अँगरेजी तथा बँगला का उन्होंने यहाँ अध्ययन किया तथा काव्यालोचना आदि के ऊपर विशेष ध्यान दिया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का इन्होंने अच्छा अध्ययन किया और उनसे प्रभावित हुए। सं० १९७९ में कालेज छोड़ दिया और स्वतन्त्र रूप से पढ़ने लगे, उपनिषद् आदि का ज्ञान प्राप्त किया तथा संस्कृत की ओर भी ध्यान दिया। पंतजी संगीत-प्रेमी हैं, उनके व्यक्तित्व में ही कविता है, कला है, वे लम्बे-लम्बे "घने रेशम से काले बाल" रखते हैं तथा आजकल अल्मोड़ा में सौंदर्य तथा कला में विचरते हैं। उन्हें प्रकृति से अनन्य प्रेम है अतः वे अपनी कविता में उसका बड़ा स्थान रखते हैं। सौंदर्य तथा कला के प्रेमी पंतजी को संसार में उनकी कल्पनानुरूप सौन्दर्य और कला नहीं मिलते अतः उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व पलायनवादी हो गया है। वे कल्पना के लोक में रहते हैं (उन्हीं के अनुसार) और उसे ही सत्य बताते हैं।

पंतजी की कविता के विषयों में प्रकृति-प्रेम तथा रहस्य-वाद से लेकर नाम का पेड़ और 'गुजरिया' तक आजाते हैं। प्रगतिगामी कवियों की भाँति जनसाधारण के लिए सामान्य से सामान्य विषय पर यथार्थ कविता करना पंतजी ने स्वीकार किया। एक यथार्थवादी कविता का अंश देखिये :—

"बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ,
टी-वी-टी-टुट्-टुट् ।'

इसमें वातावरण तथा पक्षियों के कलरव का कितना सुन्दर तथा यथार्थ वर्णन है। और एक उदाहरण लीजिये : –

"मेरे आँगन में (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे से लड़के आ जाते है अकसर
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले, × ×
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर,
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली।"

गन्दे दरिद्र लड़कों से लेकर भूखे किसान और चींटी तक पर पंतजी का ध्यान गया है और उन्होंने उन पर कविता की है। गुरुदेव ने ताजमहल पर कविता की है जो अत्यन्त मधुर है, किन्तु पंतजी ने उनके अनुसार कविता की उसमें ताज-महल पूँजीपतियों के खून चूसने का प्रतीक बन गया है। इसी धारा में बहते बहते पंतजी ने दार्शनिक रूप धारण कर लिया और उनकी कविता में से माधुर्य तथा कल्पना उड़ गई।

वे शुष्क आर्थिक विवेचन तथा दार्शनिक सिद्धान्तों पर उतर आये। काव्य केवल तर्क मात्र रह गया, पूँजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह का प्रोपेगण्डा मात्र रह गया। हर्ष की बात है कि पन्तजी ने इस धारा से अपने को मुक्त कर लिया है और वे पुनः माधुर्य की ओर आगये हैं। शुक्लजी का मत है कि आधुनिक कवियों में सच्चा रहस्यवाद केवल पंत का है। पन्त ने 'वाद' के लिए कविता नहीं की है वरन् जो अज्ञात आकर्षण अज्ञात के प्रति होता है उसे अपने काव्य में स्थान दिया है। यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है उनके रहस्यवाद की। वे इस विषय में कृत्रिम नहीं हैं। उनके मौन निमंत्रण का सौन्दर्य दर्शनीय है।

दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार,
न जाने, तपक तड़ित में कौन,
मुझे इंगित करता तब मौन।"

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब बात,-सिंधु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार, बना, बिथुरा देती अज्ञात,

उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन।'

पन्तजी का प्रकृति-प्रेम सर्व-विदित है। पहाड़ के वे रहने वाले हैं अतः पर्वत तथा मेघादि से उन्हें बड़ा प्रेम है। इसमें गुरुदेव की 'गीतावलि' का बड़ा प्रभाव है। पन्तजी कोमलता के भक्त हैं। नारी कोमलता की प्रतीक है और प्रकृति में पन्तजी सौन्दर्य तथा कोमलता पाते हैं, अतः उन्होंने प्रकृति में नारी की भावना की है। प्रकृति का पूर्ण रूप एक नारी के समान है—उनके लिए, जो उन्हें बुलाता है, और बुला-बुलाकर

छिप जाता है कभी-कभी तो उन्हें उस प्रकृति-प्रेयसी के प्रति इतना आकर्षण हो जाता है कि वे सांसारिक नारी और प्रकृति प्रेयसी के बीच झूलते-से हैं और अन्त में प्रकृति के पक्ष में फैसला देते हैं।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझादूँ लोचन।"

इसी प्रकार शरद की चाँदनी-भरी सुन्दर रात्रि उन्हें शशि-मुख पर कोमल हाथ टेके गौर वर्ण नारी-सी प्रतीत होती है। यह पन्तजी की भावना है, प्रकृति के प्रति। जगत् के भीषण परिवर्तन को देखकर उन्होंने प्रसिद्ध 'परिवर्तन' नाम्नी कविता लिखी। पन्तजी का व्यक्तित्व उनकी 'वीणा' से लेकर 'उच्छ्वास' 'पल्लव' 'ग्रन्थि' 'गुञ्जन' 'युगान्तर में होता हुआ "युगवाणी" और 'ग्राम्या' में झलकता है।

भाषा के पक्ष में भी पंतजी ने बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति का आभास दिया है। आपने प्रतिगामी कवियों की भाँति कोई बन्धन नहीं माना, यहाँ तक कि व्याकरणिक व्यवस्था भी तोड़ दी। 'प्रभात' उन्हें 'सुन्दर लगा' के स्थान पर 'सुन्दर लगी'। लिंग भेद ही नहीं, उन्होंने शब्दों की प्रकृति भी बदल डाली जिससे कुछ लोग झुँझला गये। वैसे पन्तजी ने खड़ी बोली को अपनी रूपात्मक शैली प्रदान की है। शब्दों में एक विशेष प्रकार की फिसलन उत्पन्न करदी है, अनुकरणात्मक तथा अनुरागात्मक शब्दों का प्रयोग किया है।

छंद तथा अलङ्कारों के विषय में पन्तजी ने स्वयं कहा है, "खुल गये छन्द के बन्ध, (अनु) प्रास के रजत पाश," तथा

"वाणी मेरी चाहिये तुम्हे क्या अलङ्कार
तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार"

छन्दों में नूतनता उन्होंने (जैसी कि आज के प्रगतिगामियों की रीति है) सर्वदा रखी है, यद्यपि आजकल तुकान्त कविता की ओर अधिक झुकने लगे हैं। जब से वे महर्षि अरविन्द के यहाँ से आये हैं, तब से यह भेद हो गया है। उनके एक विचित्र छन्द का उदाहरण:—

"देखो भू को !
जीव प्रसू को !
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित
कुसुमित
भू को
कोमल
शाद्वल
अंचल
कलकल
छलछल
चल-जल निर्मल
कुसुम खचित
मारुत सुरभित
+ + +"

भावाभिव्यक्ति की नित नूतन पद्धतियाँ उन्होंने निकालीं तथा छन्दों में भाषानुकूल परिवर्तन किया। नीचे के छन्द में

उसमें वर्णित भयानक भाव को प्रदर्शित करने की कितनी शक्ति है:—

"लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर।
छोड़ रहे जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर।
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत कंचुक कल्पान्तर।
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुण्डल
दिग् मण्डल॥ ('परिवर्तन')

भाषा का प्रवाह, तथा उसकी उलझनपूर्ण लपेट, भावों के अनुकूल छन्द की चाल तथा भावाभिव्यक्ति की नूतन प्रतीकमयी पद्धति का यह उदाहरण है, जो पन्तजी को प्रिय है।

---

(६) श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

(सं० १९६१ से २००४ तक)

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म सं० १९६१ में हुआ था। आरम्भ से ही स्वतन्त्रता तथा साहित्य से आपको प्रेम था। देश का गौरव तथा प्राचीन इतिहास उनके लिए सर्वदा आकर्षण की वस्तु रहा। अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद से ही उन्होंने कविता करना आरम्भ किया। इनका विवाह जबलपुर के ठाकुर लक्ष्मणसिंह जी से हुआ था। ठाकुर साहब के स्वयं उन्नत विचारों के व्यक्ति तथा शिक्षा-सम्पन्न होने के कारण सुभद्राजी की साहित्य-सेवा चलती रही। हिन्दी कवियों में ऐसे बहुत कम मिलेंगे जो साहित्य-सेवा तथा सक्रिय

देश-सेवा भी करते हों। सुभद्राजी ने देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। सन् ४२ की क्रान्ति में आपने अपना पूर्ण योग दिया था। आप अपने प्रान्त की एम० एल० ए० भी थीं। सामाजिक कार्यों में आप उत्साहपूर्वक हाथ बटाया करती थीं। अपनी कविता में उन्होंने देश-प्रेम को स्थान दिया तथा अपनी भावनाओं को कार्य रूप में परिणत भी किया। सुभद्राजी की मृत्यु सं० २००४ में अचानक एक मोटर-दुर्घटना में हो गई तथा हिन्दी संसार और अपने देश से एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व छिन गया।

सुभद्राजी ने प्रायः फुटकर रचनाएँ ही की थीं। उनकी एक विशेषता यह है कि उनकी फुटकर रचनाएँ भी देश के बच्चे-बच्चे के मुँह से सुनाई पड़ती हैं। "झाँसी की रानी" वाली उनकी कविता अपने समय में अत्यन्त लोकप्रिय थी।

"बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।"

उपर्युक्त पंक्तियों में देश के वीरों में उत्साह संचार करने की शक्ति थी। उनकी 'वीरों का कैसा हो वसंत,' 'मानिनि राधे', 'प्रियतम से', 'चलते समय', 'ठुकरा दो अथवा प्यार करो', 'मेरा बचपन' आदि प्रसिद्ध हैं। सुभद्राजी ने प्रेम, शृङ्गार वात्सल्य, देश-प्रेम तथा सामाजिक हित की कविताएँ लिखी थीं। प्रेम तथा शृङ्गार का वर्णन भी उनका अत्यन्त सरल तथा ऐन्द्रिकता से रहित है। अपने उच्च सात्विक विचारों के कारण उन्होंने कविता में भी एक आदर्श रखा है। देश-प्रेम तथा सामाजिक हित की कविताएँ सच्चे उद्गारों के परिणाम-स्वरूप होने के कारण अत्यन्त जोशीली तथा भावपूर्ण हैं। उनमें आडम्बर नहीं है किन्तु फिर भी वे प्रभावोत्पादक हैं,

यह सुभद्राजी की विशेषता है। सुभद्राजी ने कुछ अत्यन्त सुन्दर कविताएँ वात्सल्य पर लिखी हैं। आधुनिक समय में जब कि सब की प्रकृति घोर शृंङ्गार तथा रहस्यवाद की ओर है, सुभद्राजी ने सुन्दर स्वाभाविक-सरल वात्सल्य की कविताएँ लिखकर माताओं के लिए साहित्य-सामग्री प्रस्तुत की। सुभद्राजी स्वयं गृहस्थ-महिला थीं अतः एक शान्तिमय गृह का स्वाभाविक चित्रण करने में वे सर्वदा सफल रहीं।

सुभद्राजी ने खड़ी बोली के अत्यन्त सरल तथा स्वाभाविक रूप को अपनाया। भाषा में आडम्बर तथा कृत्रिमता अथवा अलङ्कार-बाहुल्य को उन्होंने स्थान ही नहीं दिया। भाव, भाषा, अलङ्कार तथा शैली सब में स्वाभाविकता लाने के कारण तथा सरलता को अपनाने के कारण ही उनकी रचनाएँ लोकप्रिय हुई हैं। भाषा का मिठास तथा उसका लोच सुभद्राजी ने कहीं भी कम नहीं होने दिया। उनके चरित्र की सरलता उनकी कविता में भी प्रदर्शित है।

---

(१०) श्रीमती महादेवी वर्मा

(जन्म सं० १९६४)

महादेवीजी का जन्म फर्रुखाबाद में सं० १९६४ में हुआ था। उनके पिता भागलपुर के एक कालेज में हेडमास्टर थे। उनका नाम श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा था। महादेवीजी की माता श्रीमती हेमरानी देवी भी हिन्दी में कभी-कभी कविता किया करती थीं। विदुषी माता के लालन-पालन में महादेवीजी ने भी साहित्यिक अभिरुचि को अपनाया। यही नहीं, महादेवीजी के नाना भी ब्रजभाषा में कविता किया करते थे। इस प्रकार उनका जन्म एक साहित्य-प्रेमी परिवार में हुआ, और उस

वातावरण का महादेवी ने पूर्ण लाभ उठाया। महादेवीजी की प्रारंभिक शिक्षा इंदौर में हुई। उन्होंने एन्ट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। बी० ए० पास करने के बाद उन्होंने एम० ए० में संस्कृत ली और उस परीक्षा में सफलता प्राप्त की। महादेवी का विवाह डाक्टर रूपनारायण वर्मा के साथ हुआ। महादेवीजी अपनी शिक्षा समाप्त करके कुछ समय उपरान्त प्रयाग विद्यापीठ की प्रिन्सिपल हो गई थीं। अभी हाल में ही उन्होंने अवकाश ग्रहण किया है।

हिन्दी साहित्य के छायावादी कवियों में महादेवीजी ही रहस्यवाद के भीतर रही हैं। महादेवी की कविता का केन्द्र है, वेदना। अपने अज्ञात प्रियतम के लिये उनकी कविता में वेदना ही वेदना है। अपने प्रेम को उन्होंने वेदना में ही व्यक्त किया है तथा उस वेदना में स्वाभाविक प्रेम को खोजने का प्रयत्न वे सदा करती हैं।

"तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा।
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा॥"

इस प्रकार से अपने अज्ञात असीम प्रियतम के विरह में उन्होंने अनेक रहस्यवादी कविताओं का निर्माण किया है। वियोग तथा वेदना को लेकर उन्होंने नित नूतन कल्पनाओं का आधार लिया तथा कल्पना के आधार पर काल्पनिक प्रियतम के प्रेम का वर्णन किया।

"मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है।"

'प्रियतम तथा मैं' और दोनों के बीच की विरह-भावना और उस विरह में वेदना की विवृत्ति ही महादेवीजी की कविता का विषय है। उनका यहाँ तक कहना है कि प्रिय के मिलन से प्रिय का विरह अधिक सुखदायक है, शान्तिदायक है।

"मिलन का मत ले नाम, मैं विरह में चिर हूँ ।"

इस प्रकार की कविता में साधारण पाठक को कुछ अस्वाभाविकता के दर्शन अवश्य होते हैं क्योंकि सब कुछ असीम तथा काल्पनिक है, और इतनी अधिक वेदना की इच्छा भी सब को नहीं होती।

प्रेम में जितनी भी आधुनिक मधुर तथा कोमल भावनाएँ और कल्पनाएँ हो सकतीं हैं, महादेवीजी ने सब को अपनी कविता में स्थान दिया है। उन्होंने अधिकतर फुटकर गीतादि ही लिखे हैं, और उनके संग्रह रूप में अनेक पुस्तकें निकली हैं।

"घोर तम छाया चारों ओर
घटाएँ घिर आईं घन घोर;
वेग मारुत का है प्रतिकूल
हिले जाते हैं पर्वत मूल;
गरजता सागर बारम्बार,
कौन पहुँचा देगा उस पार।"

भाषा, छंद, अलंकार आदि में महादेवीजी पूर्णतया आधुनिक हैं। नये-नये छंदों में लय तथा संगीत की नूतन उद्भावना आधुनिक कविता की विशेषता है। ऊपर के उद्धरण के समान महादेवीजी की कविता में एक भावपूर्ण प्रवाह होता है जो लय तथा संगीत को साथ लेता हुआ चलता है। आधुनिक छायावादी तथा रहस्यवादी कवियों में महादेवीजी का स्थान प्रतिनिधि कवियों में अग्रगण्य है।

गद्य लेखक

भारतेन्दु-युग

(१) पं० बालकृष्ण भट्ट

(सं० १६०१ से १६७१)

भट्टजी का जन्म सं० १६०१ में प्रयाग में हुआ था। बचपन में घर पर ही उन्होंने संस्कृतादिक की शिक्षा प्राप्त की। घर पर संस्कृत पढ़ने के बाद वे एक मिशन स्कूल में अँग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजे गये। भट्टजी खरे तथा स्वतंत्र प्रकृति के आरम्भ से ही थे, स्कूल के पादरी हेडमास्टर से किसी बात पर बिगड़ जाने के कारण स्कूल छोड़कर घर चले आये तथा पूर्णतः संस्कृताध्ययन आरंभ कर दिया। कुछ समय उपरान्त भट्टजी जमुना मिशन स्कूल में अध्यापक हो
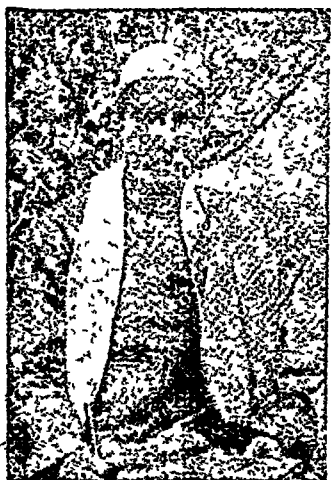
गये। वहाँ से भी धार्मिक विषय में मतभेद तथा अनबन हो जाने के कारण उन्हें हटना पड़ा। व्यापार के प्रयत्न में वे सफल न हो सके उनकी अभिरुचि साहित्य की ओर थी और वे स्वतंत्र प्रकृति के थे, नौकरी आदि पर टिकते न थे। अंत में भगवती

सरस्वती की शरण में आये तथा पूर्णरूप से उसी की सेवा करने लगे। भट्टजी ने 'हिन्दी प्रदीप' नामक एक पत्र का संपादन भी सफलतापूर्वक किया। इस पत्र के संपादन-कार्य को वे दृढ़तापूर्वक पूरे ३२ वर्ष तक चलाते रहे। उनका स्वर्गवास सं० १९७० में हुआ।

भट्टजी ने निवन्ध अधिक लिखे, वैसे उन्होंने "सौ अजान एक सुजान" और "नूतन ब्रह्मचारी" नामक उपन्यास तथा "वाल विवाह" नाटक तथा अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे। भारतेन्दु युग के प्रमुख गद्य लेखक तथा निवन्ध-लेखक, भट्टजी तथा प्रतापनारायण मिश्र थे। 'साहित्य सुमन' में भट्टजी के निवंधों का संग्रह है।

भट्टजी को हिन्दी साहित्य में गद्य का अभाव वहुत खटकता था, अतः उन्होंने अनेक साहित्यिक निवन्ध लिखे। उनके निवंधों की विशेषता यह थी कि वे भावों से भरपूर होते थे। भट्टजी की शैली दो प्रकार की थी, (१) परिचयात्मक तथा (२) भाव-प्रधान। भट्टजी की सव से वड़ी विशेपता थी, उनका व्यंग्य। वे वड़ी मीठी चुटकी अपने निवन्धों में लेते थे। भट्टजी की विशेपता यह भी थी कि उन्होंने 'आँख' 'कान' 'नाक' आदि जैसे साधारण विषयों पर वड़े मनोरञ्जक तथा भावपूर्ण लेख लिखे। अंगरेजी में जैसे चार्ल्स लेम्ब (Charles Lamb) के निवन्ध अपनी भावना की गहनता के लिए प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार हिन्दी में भट्टजी के निवन्ध भी प्रसिद्ध हैं। भट्टजी पाखण्डादि के विरोधी थे। जीवन में संघर्ष होने के कारण कभी-कभी उनके व्यंग्यों में चिड़चिड़ाहट की मात्रा आ जाती थी, और सत्य तो यह है कि जव वे अपने अपनत्व को पाकर चिड़चिड़ाहट में लिखते थे तभी अपनी सवसे सुन्दर शैली को

पाते थे। भाषा भट्टजी की अत्यन्त साफ सुथरी होती थी और इस विषय में वे प्रतापनारायण मिश्र से मिलते-जुलते थे।

शब्दचयन में भट्टजी ने खड़ी बोली का निर्वाह पूर्ण रूप से नहीं किया, अपनी भाषा में वे पूरबीपन ले आते थे। "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझायकर" का प्रयोग प्रायः किया करते। अपने लेखों में कहावतों तथा मुहावरों का प्रयोग वे खूब करते थे, इसके कारण उनकी भाषा में सजीवता रहती थी। वाक्यविन्यास भट्टजी का कुछ बड़ा होता था, वे बड़े-बड़े वाक्यों का प्रयोग अधिक इस कारण करते थे कि उनके लेखों में भावाधिक्य होता था तथा वक्रता की मात्रा भी उनमें होती थी। भट्टजी अँगरेजी पढ़े-लिखों का हिन्दी की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए कोष्ठक में अँगरेजी के शब्द तथा पदादि रखा करते थे, जैसे 'National vigor and strength', 'Standard' 'Education' तथा 'Character', आदि। यही नहीं, भट्टजी अपनी मौज में आकर उर्दू-फारसी के मुहावरे भाषा में ले आते थे तथा यदा-कदा फिकरेबाजी भी कर दिया करते थे। और मुहावरों की सूझ थी भी उनकी अनूठी। 'आँख' 'कान' आदि पर उन्होंने जो लेख लिखे उनमें मुहावरों का खूब प्रयोग किया। भट्टजी ने हिन्दी-पाठकों का परिचय संस्कृत साहित्य में भी कराया था।

भट्टजी की लिखावट के दो उदाहरण देखिये:—

"यावत मिथ्या और दरोग की किबलेगाह इस कल्पना-पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने नहीं पाया। अनुमान करते-करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गए। कणाद किनके खा-खाकर किनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी

कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल वेचारे पच्चीस तत्वों की कल्पना करते-करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गये।"

(कल्पना)

"इधर पंचास साठ वर्षों से अँगरेजी राज्य के अमन-चैन का फायदा पाय हमारे देशवासी किसी भलाई की ओर नहीं झुके वरन् दस वर्ष की गुडियों का व्याह कर पहले से ड्यौढ़ी-दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। ...... पुष्टवीर्य, पुष्टबल, भाग्य-वान् एक संतान अच्छा। 'कूकर सूकर से' निकम्मे रगरग में दास भव से पूर्ण परभाग्योपजीवी दस किस काम के।"

अँगरेजी साहित्य में जो काम एडीसन तथा स्टील ने किया वही काम भट्टजी ने हिन्दी में किया। भट्टजी ने बँगला से माईकेल मधुसूदन की पुस्तकों का अनुवाद भी हिन्दी में किया था। भट्टजी ने समालोचना की ओर भी सफल प्रयास किया था।

---

(२) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

(सं० १६०७ से १६४२)

भारतेन्दुजी की जीवनी हम उनके कवि जीवन के वर्णन मे दे आए हैं। युग पुरुष भारतेन्दुजी केवल कवि ही नहीं थे वरन् उन्होंने गद्य के क्षेत्र में सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। उन्होंने नाटक, निबन्ध तथा अन्य विषयों पर पुस्तकें लिखीं। भारतेन्दुजी ने उस समय की कठिन परिस्थितियों में भी पत्रों का सफल सम्पादन किया। पत्र केवल निकाले ही नहीं निकलवाये भी। उन्होंने केवल लिखा ही नहीं, अन्य लेखकों को उत्साहित करके लिखवा भी। अपनी सम्पत्ति तथा

स्वास्थ्य तक को उन्होंने हिन्दी को दे डाला। भारतेन्दु हिन्दी गद्य के संस्थापक माने जाते हैं। भारतेन्दुजी ने कोई १५ अनूदित तथा मौलिक नाटक लिखे जिनमें चन्द्रावली (नाटक), सत्य हरिश्चन्द्र, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारत दुर्दशा, मुद्राराक्षस (अनूदित) तथा नीलदेवी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दुजी नाटक शास्त्र पर एक बड़ा निबन्ध रूप ग्रन्थ लिख रहे थे कि असमय मृत्यु ने उन्हें उठा लिया। भारतेन्दुजी केवल अच्छे लेखक ही न थे वरन् वे बड़े अच्छे वक्ता भी थे। उनके व्याख्यानों को यदि पढ़ा जाय और उनमें से स्थान, काल तथा वक्ता का नाम हटा दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा मानों आधुनिक भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के किसी असहयोगी नेता का व्याख्यान हो। वे देश-भक्ति में ओत-प्रोत थे।

भारतेन्दुजी ने भारत दुर्दशा, नीलदेवी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, तथा अन्धेर नगरी आदि नाटक लिखकर देशवासियों में देश-प्रेम जाग्रत करने का प्रयत्न किया, उनमें धर्म के सत्य स्वरूप की उद्भावना करने का प्रयत्न किया, देशवासियों के सामने पाखंडियों की पोल खोली तथा उनमें सामाजिक जागृति लाने का प्रयत्न किया। भारतेन्दुजी केवल देश-भक्त ही न थे वरन् भगवद्भक्त भी थे। वे वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे और उन्होंने उसी के अनुसार "वल्लभीजनों" को वल्लभीमार्ग दिखाने के लिए 'चन्द्रावली' नामक नाटिका लिखी। भारतेन्दुजी अनन्य प्रेमी तथा भक्त थे। उनका कृष्ण के प्रति प्रेम तथा भक्तिभावना चन्द्रावली नाटिका में पूर्ण रूप से प्रदर्शित होते हैं। कविता में ब्रज का सुन्दर प्रयोग करके तथा गद्य में सरल सुन्दर खड़ी बोली का प्रयोग करके भारतेन्दुजी ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

भारतेन्दुजी का प्रभाव केवल साहित्य की प्रवृत्तियों पर ही नहीं पड़ा, उन्होंने केवल विषयों के विषय में ही साहित्य की गति को नहीं मोड़ा वरन् भाषा पर भी उनका प्रभाव पड़ा। भारतेन्दुजी से पहले हिन्दी का गद्य अत्यन्त अव्यवस्थित तथा अस्थिर था। तब तक उसके स्वरूप का निर्देश ही नहीं हो सका था भारतेन्दुजी तथा उनकी गोष्ठी ने हिन्दी के गद्य का एक माप (Standard) निकाला, उसी माप से आज भी गद्य की परीक्षा होती है।

भाषा के विषय में भारतेन्दुजी ने बड़ा न्यायपूर्ण पथ अपनाया। उन्होंने ब्रजभाषापन, पंडिताऊपन, पूरबी प्रभाव तथा संस्कृत-प्रभाव, सब को भाषा से हटा दिया तथा उसे एक अपना तथा नया स्थिर रूप दिया। भाषा में उन्होंने उर्दू के अत्यन्त प्रचलित शब्दों को स्थान दिया तथा खड़ी बोली के अपने शब्दों में प्रयोग पर बल दिया। इस प्रकार भाषा को बाह्य प्रभावों से मुक्त करके भारतेन्दुजी ने उसे अपना स्वरूप दिया। वही स्वरूप आज भी थोड़े बहुत भेदों के साथ मान्य है।

भारतेन्दुजी का शब्दचयन अत्यन्त विस्तृत था। निगोड़ी' आदि शुद्ध ब्रज के प्रयोग वे कर लिया करते थे, 'दगाबाज' जैसे विदेशी शब्दों के प्रयोग में भी नहीं हिचकते थे। शब्दों की शक्ति को प्रथम बार भारतेन्दु ने ही पहचाना। भारतेन्दुजी की शैली तथा भपा की सबसे बड़ी विशेषता थी उनका भावानुकूल होना। जहाँ समावेश हो, अथवा वार्त्तालाप से क्रोध अथवा खीझ की भावना हो वहाँ छोटे वाक्यों को रखकर प्रभाव उत्पन्न करना वे जानते थे। जहाँ कोमल भावों तथा कल्पना का बाहुल्य होता था वहाँ वे लम्बे-लम्बे तथा एक दूसरे से जुड़े वाक्यों का प्रयोग करते थे। इस प्रकार उनकी शैली भावानुकूल चला करती थी।

भारतेन्दुजी प्राय: दो प्रकार की शैली प्रयोग में लाया करते थे। निबन्धों मे जहाँ विवेचना अथवा गम्भीर गवेषणा होती थी वहाँ वे संस्कृत-बहुला शुद्ध साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया करते थे, तथा जहाँ भावों का बाहुल्य तथा संवाद होते थे वहाँ वे सरल चलती भाषा का प्रयोग करते थे।

भारतेन्दुजी की एक सबसे बड़ी विशेषता थी उनका हास्य। उन्होंने बड़े सफल प्रहसन लिखे। उनके नाटकों की सफलता का श्रेय किसी सीमा तक इस तथ्य को था कि भारतेन्दुजी स्वयं बड़े अच्छे अभिनेता थे। उन्होंने अनेक नाटकों में अभिनय किया, तथा अनेक नाटकों के प्रदर्शन में सहयोग दिया। बँगला रंगमंच से परिचित होने के कारण भी भारतेन्दुजी को इस विषय में सहायता मिली। उनके प्रहसनों में 'अन्धेर-नगरी', वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें सामाजिक कुरीतियों तथा धर्म के ठेकेदारों के पाखण्डों का बड़ा व्यंग्यात्मक प्रदर्शन है। भारतेन्दु कलाकार थे तथा उनकी विशेषता थी प्राचीनता के प्रति सम्मान-भावना और नवीनता के प्रति उत्साह। इस कारण उन्होंने प्राचीन धर्म को नवीन परिस्थितियों के योग्य बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किया। वे खुले आम धर्माधिकारियों की निन्दा न कर सकते थे, (और यदि करते तो उसका इतना प्रभाव न होता) अत: उन्होंने नाटकों द्वारा दोषों को जनता के सामने रखा। नाटकों की पद्धति में भारतेन्दुजी ने प्राचीनता को अपनाया तथा केवल कहीं-कहीं पद्धति में बँगलापन आने दिया। शुक्लजी के अनुसार प्राचीन और नवीन का यही सामंजस्य भारतेन्दुजी की कला का विशेष सौन्दर्य है।

भारतेन्दुजी की भाषा के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

"झूठे ! झूठे ! झूठे ! झूठे ही नहीं, विश्वास-घातक ! क्यों इतनी छाती ठोक-ठोक कर और हाथ उठाकर लोगों को इतना विश्वास दिलाया ? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते ।" ....."भला क्या काम था कि इतना पचड़ा खड़ा किया ? कुछ न होता केवल तुम्हीं होते, बस चैन था, आनन्द था । + + बखेड़िए ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, पर वाहरे शुद्ध बेहयाई ! पूरी निर्लज्जता ! × × × काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे । हुकमी बेहया हो ।"

ऊपर के उद्धरण में विरहाकुल चन्द्रावली कृष्ण का उपालम्भ कर रही है। भावों की तीव्रता का कैसी चलती भाषा में प्रदर्शन किया है।

अपने देश की परिस्थिति का वर्णन तथा जागृति के लिए सन्देश निम्न उद्धरण में देखिये ।-

"आज बड़ा दिन है, क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनन्द का दिन नहीं है। किन्तु मुझे आज उलटा और दुख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। × × × जब मुझे अँगरेज रमणी लोग मेद सिंचित केशराशि कृत्रिम कुंतल जूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पति के साथ प्रसन्न-वदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भांति फिरती दिखाई पड़ती हैं, तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है।"

('नीलदेवी' का एक वक्तव्य)

भारतेन्दु की इस कला का विकास साहित्य-गगन में अत्यन्त मधुर तथा सर्वप्रकाशकारी रूप से हुआ था।

---

(३) प्रतापनारायण मिश्र

सं० १९१३ से १९५१)

मिश्रजी भारतेन्दु-मण्डल के प्रमुख लेखकों में से थे। ये बालकृष्ण भट्ट के समान निबन्ध लेखन में अत्यन्त निपुण थे। इनके पिता उन्नाव से आकर कानपुर में बस गये थे और वहीं इनका जन्म सं० १९१३ में हुआ था। मिश्रजी स्वभाव के बड़े मनमौजी थे तथा आधुनिक सभ्यता और शिष्टता की बहुत कम परवा करते थे। उन्हें लावनीबाजों के साथ लावनी गाने में तथा मेले-ठेले में बन्द इक्के में बैठकर घूमने में बिलकुल संकोच न होता था। उन्होंने अत्यन्त स्वतन्त्र प्रकृति पाई थी। यह विशेषता भारतेन्दु-मण्डली के प्राय: सभी साहित्यकारों में थी। मिश्रजी के पिता इन्हें पण्डित तथा ज्योतिषी बनाना चाहते थे, किन्तु इनका आजाद मन ज्योतिष की गणना में न लगा। अत: पिता ने वहाँ से हटाकर इन्हें अँगरेजी पढ़ने के लिए स्कूल में भरती कराया। वहाँ भी इनका मन न लगा। मिशन स्कूल में भेजे गये और वहाँ से भी जी उचट

जाने के कारण चले आये। घर आकर उर्दू, फारसी, संस्कृत, बँगला आदि भाषाएँ सीखीं तथा साहित्य में लग गये। इनकी मृत्यु सं० १९५१ में हुई।

मिश्रजी के निबन्धों के तीन संग्रह निकल चुके हैं: 'हठी हम्मीर' 'कलि प्रभाव' तथा 'गोसंकट'। मिश्रजी के समय से पहले व्यंग्यात्मक शैली तथा हास्य से पूर्ण निबन्धों का हिन्दी में अभाव सा ही था और भट्टजी तथा मिश्रजी के बाद इस प्रकार के निबन्ध हिंदी में कम ही लिखे गये। मिश्रजी विनोदप्रिय थे अतः उनकी कृतियों में सुन्दर व्यंग्य तथा हास्य होता था। भट्टजी से मिश्रजी का यह भेद था कि भट्टजी के समान उनमें चिड़चिड़ाहट की मात्रा न थी। सामाजिक तथा धार्मिक दो विषयों पर अधिकतर मिश्रजी लिखा करते थे और विषयानुकूल उनकी भाषा तथा शैली भी बदल जाया करती थी। उनकी शैली भी दो प्रकार की थी—एक में विवेचन के कारण गम्भीरता का पुट होता था तथा दूसरी में हास्य तथा व्यंग्य का। मिश्रजी भाषा के विषय में यद्यपि भारतेन्दुजी की भाषा को ही आदर्श मानते थे किन्तु पूरबीपन की चिन्ता न करके वे बैसवारे की ग्राम्य कहावतों का बहुधा प्रयोग किया करते थे। शब्दों के विषय में भी वे अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय देते थे तथा बैसवारे के शब्दों का प्रयोग तक कर देते थे। वाक्य-विन्यास तथा पद-विन्यास मिश्रजी का अपना होता था—उसमें भावानुकूल वे परिवर्तन किया करते थे। विषयों का चुनाव भी उनका स्वतन्त्र तथा नित नूतन हुआ करता था जैसे "घूरे के लत्ता बिनें, कनातन के डौल बाँधें" "समझदार की मौत" "बात" तथा "भौं" आदि। "समझदार की मौत" का एक उदाहरण देखिये।

"सच है 'सबतें भले मूढ़ जिन्हें न व्यापे जगत गति'। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना जो कोई तिथि त्यौहार आ पड़ा तो, गंगा में बदन धो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंतमेंत में धरम मूरत, धरम-औतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनों तो बन गए, अब काहे की है-है और काहे की खै-खै? आफत तो बिचारे जिन्दादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल; जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान् कहते थे "गीर्वाण वाणीषु विशाल बुद्धिस्तथान्य भाषा रसलोलुप।हम्" अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है; अब यह चिन्ता खाये लेतीं है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे?"

मिश्रजी की शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें उनके व्यक्तित्व की छाप साफ लगी दिखाई देती है। जितना जितना हम उनके लेखों को पढ़ेंगे उतने-उतने हम मिश्र-जी के व्यक्तित्व के निकट पहुँचते जावेंगे। इनका कारण उनकी स्वतन्त्र प्रकृति तथा उनकी अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्ति देने की आदत थी। इसी कारण मिश्रजी समाज की कुरीतियों तथा धार्मिक पाखण्डों को निकाल भगाने के प्रयत्न में अन्य लेखकों से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। मिश्रजी ने अपने निबन्धों में अपनी कल्पना तथा अपने भावों को खूब स्वतंत्रता दे रखी थी। मिश्रजी ने केवल निबन्ध ही नहीं लिखे थे वरन् नाटकों की ओर भी प्रयास किया था। "कलिकौतुक रूपक" में पाखण्डियों तथा दुराचारियों का वास्तविक चित्रण करके उनसे सावधान रहने का संकेत किया है। 'संगीत शाकुन्तला' नामक लावनी पद्धति पर एक सुन्दर गाने योग्य

पुस्तक भी उन्होंने लिखी। उन्होंने भारतेन्दु के अनुकरण पर 'भारत दुर्दशा' नामक एक नाटक भी लिखा था। प्रसहन भी मिश्रजी ने लिखे।

भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट तथा मिश्रजी की त्रयी हिन्दी गद्य के स्थापन में सर्वदा स्मरणीय रहेगी।

द्विवेदी-युग

(१) श्यामसुन्दरदास

(सं० १९ ४ से १९९२)

बाबू श्यामसुन्दरदास का जन्म बनारस में सं० १९१४ में हुआ था। इनके पिता का नाम बाबू देवीदास खन्ना था।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के कारण बाबूजी का नाम हिन्दी-साहित्य तथा हिन्दी-प्रेमी विद्वानों में सदा स्मरणीय रहेगा। बी० ए० पास करके वे कुछ दिनों तक सेण्ट्रल हिन्दू कालिज में अँगरेजी के अध्यापक रहे। इसके बाद कुछ दिनों तक और काम करने के बाद वे काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय में कई वर्ष तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे।

बाबूजी लगभग ५० वर्ष तक हिन्दी की सेवा करते रहे। वे केवल अच्छे लेखक ही न थे वरन् वक्ता भी थे। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य और भाषा', 'भाषा विज्ञान', 'भाषा रहस्य' आदि ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी सामग्री इकट्ठी करना तथा उसका संकलन और सम्पादन। भाषा विज्ञान पर हिन्दी में कोई पुस्तक न थी।

बाबूजी ने अँगरेजी तथा अन्य भाषाओं की सहायता से एक सुन्दर पुस्तक की रचना की जो आज भी हिन्दी भाषा में इस विषय में अद्वितीय है। 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ में भी उन्होंने अधिक परिश्रम किया। कवियों के जीवन तथा उनकी कृतियों को खोज निकालने के काम में उन्होंने बड़ी योग्यता दिखाई। ऐतिहासिक तथा आलोचक के रूप में उनका बड़ा मान है। आधुनिक समय में हिन्दी के प्रचार तथा उसकी रक्षा के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया।

गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कबीर, आदि कवियों के विषय में आपने बड़ी खोज की तथा तीनों पर एक-एक पुस्तक प्रकाकित की। आपका कार्य उतना मौलिक नहीं है जितना संकलित है। उन्होंने गंभीर तथा विवेचानात्मक विषयों पर ही अधिक लिखा था और इसी कारण उनका काम, चाहे संकलन का भले ही हो, बड़ा ठोस माना जाता है। उन्होंने विशेष दिशा में कार्यारम्भ किया, यह उनकी विशेषता है।

उनकी शैली में व्यंग्य, हास्य तथा कटाक्ष आदि नहीं हैं और इस कारण आपकी शैली अधिक रोचक भी नहीं है। अध्यापकों की रीति के समान किसी बात को बार-बार समझाने की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। शैली में इसी कारण दुरूहता का नाम भी नहीं है। साथ ही साथ एक ही बात की पुनरुक्ति अधिक मिलती है, जो कि कभी-कभी खटकती है। बाबूजी की शैली में आलंकारिकता तथा सजावट का अभाव है। गंभीर विषयों पर लिखने के कारण उनमें काव्यत्व नहीं है और इसका कारण उनकी प्रकृति भी है। वैसे कभी-कभी समस्या को अच्छी तरह से समझाने के लिए रूपकादि का आश्रय ले-लेते हैं, जैसे कि साहित्यालोचन में उन्होंने साहित्य की धारा

का रूपक नदी की धारा से बाँधा है। उन्होंने अपनी शैली में मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग भी नहीं के बराबर ही किया है। इन सब कारणों से उनकी शैली में एक अध्यापकापन तथा सादगी आ गई है और उसके कारण हम उनके लेखों को आसानी से समझ सकते हैं।

शब्दचयन में उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया है कि विदेशी शब्द भाषा में न आने पावें। उर्दू के शब्दों को उन्होंने भरसक बचाया है, वैसे अत्यन्त प्रचलित शब्द जो अनायास ही भाषा में आ जाते हैं, उनकी भाषा में भी पाये जाते हैं। अँगरेजी आदि के शब्दों का प्रयोग वे नहीं करते थे। संस्कृत के उद्धरण देने में वे नहीं हिचकते थे। संस्कृत तथा उर्दू दोनों के शब्दों का यदि उन्होंने प्रयोग किया है तो उन्हें हिन्दी की उच्चारण विधि के अनुकूल बनाकर ही। उर्दू शब्दों के नीचे नुकता वे सर्वदा उड़ा दिया करते थे। वाक्य-विन्यास में वे सदा सतर्कता से काम लेते थे। वे बड़े-बड़े लम्बे वाक्यों का प्रयोग किया करते थे किन्तु उनकी गठन का सर्वदा ध्यान रक्खा करते थे। उन्होंने पद-विन्यास तथा वाक्य-विन्यास दोनों में हिन्दी का अपना रूप अपनाया।

नीचे उनके गद्य के दो उदाहरण दिये जाते हैं:—

(१) "जब विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर, हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाये रहेंगे तब तक वे हमारे अपने न होंगे।"

(२) "भाषा का समाज के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है,

यहाँ तक कि एक के विना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं। पर यहीं दोनों के साफल्य तथा सम्बन्ध की इतिश्री नहीं होती। दोनों साथ-साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति, और भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है।"

(४) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

(सं० १९२१ से १९९५)

पंडितजी का जन्म दौलतपुर (जिला रायबरेली) में सं० १९२१ में हुआ था। शुरू में उन्होंने संस्कृत की कुछ शिक्षा प्राप्त की, फिर अँगरेजी पढ़ने फतहपुर तथा उन्नाव गये। इधर से उधर फिरने के कारण उनकी शिक्षा सुचारु रूप से न चल सकी। अन्त में उन्होंने तार का काम सीखा तथा वे जी० आई० पी० रेलवे में २२) मासिक की नौकरी करने लगे। इस पर काम करते हुए ही उन्होंने बँगला, मराठी आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया और कविता करने लगे। जब

वे चीफ क्लर्क थे तथा उन्हें १५०) वेतन मिलता था, तब एक दिन अफसर से झगड़ा हो जाने के कारण उन्होंने नौकरी छोड़ दी और 'सरस्वती' का सम्पादन आरम्भ कर दिया।

द्विवेदीजी गंभीर तथा सरल दोनों प्रकार के विषयों पर लेखनी चलाई। उन्होंने निबन्ध (भावात्मक) तथा आलोचनात्मक गद्य लिखा तथा सामान्य समस्याओं पर सरस्वती में लेख लिखे। भारतेन्दुजी ने भाषा का रूप स्थिर किया था किंतु उसका सुधार द्विवेदीजी ने ही किया। व्याकरण सम्बन्धी तथा अन्य शास्त्रीय दोषों से उन्होंने भाषा को मुक्त किया। भाषा के शरीर को पुष्ट किया। गद्य के स्वरूप को पुष्ट करने तथा भाषा की स्थिरता को स्थायित्व प्रदान करने के कारण ही हम उस समय को जिसमें कि द्विवेदीजी लिखते थे "द्विवेदी-युग" कहते हैं। भारतेन्दु की भाँति द्विवेदीजी ने अनेक नवयुवकों को साहित्य सेवा की ओर उत्साह दिलाया। आधुनिक काल के अनेक उच्च कवियों को बनाने का श्रेय द्विवेदीजी को है। इसी नैतिक सहायता के द्वारा तथा अपनी लेखनी के बल पर द्विवेदीजी ने भाषा का उद्धार किया।

केवल गद्य-लेखन ही नहीं, द्विवेदीजी ने हिन्दी में आलोचना का आरम्भ भी किया। यद्यपि उस समय की आलोचना केवल गुण-दोष-दर्शन तक ही सीमित है किन्तु फिर भी आलोचना का आरम्भ करने का श्रेय द्विवेदीजी को ही है। द्विवेदीजी के लेख विचारात्मक श्रेणी में ही आते हैं किन्तु उनमें विचारों की वह गूढ़गुम्फित परम्परा नहीं मिलती जिससे पाठक का मन किसी विशेष तथा नूतन विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। उनमें विचारों की गहनता भी नहीं है। और हम इसे दोष भी नहीं समझते क्योंकि उस समय भाषा के रूप को सुधारने का प्रश्न अधिक था, न कि भावों की गहनता का। उस समय तो गद्य का निर्माण ही प्रथम प्रश्न था।

द्विवेदीजी की शैली की विशेषता इस बात में थी कि वे

कठिन विचारों तथा विषयों को सरल से सरल रूप में समझाने का प्रयत्न करते थे। "कवि और कविता" नामक निबन्ध में, उन्होंने गम्भीर विषय को भी सरल बनाने का प्रयत्न किया है—और इससे विषय का महत्त्व कुछ कम हो गया है, जैसे:—

"इससे स्पष्ट है किसी-किस में कविता करने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है। × × × कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसका कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बड़े-बड़े काम हुए हैं।"

द्विवेदीजी की शैली व्यास शैली है। वे छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा विषय को खूब खोल कर रख देते हैं और तर्कों द्वारा विपक्षी को कायल करने में बड़े समर्थ होते हैं। जैसे :—

"आप कहते हैं प्राचीन भाषा मर चुकी और उसे मरे तीन सौ वर्ष हो चुके। इस पर प्रार्थना है कि न वह कभी मरी और न मरने के कोई लक्षण दिखाई देते हैं। यदि आप अभी आगरा, मैनपुरी, मथुरा, फर्रुखाबाद और इटावा की ओर तशरीफ ले जायँ तो कृपा करके वहाँ के एक आध अपर प्राइमरी या मिडिल स्कूल का मुआइना न सही तो मुलाहिजा अवश्य ही करें। ऐसा करने से आपको मालूम होगा कि जिसे आप मुर्दा समझ रहे हैं वह अब तक इन जिलों में बोली जाती है।"

इस प्रकार की सरल भाषा के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने भावात्मक निबन्धों में शुद्ध संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग भी किया है। "दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ" में उन्होंने अत्यन्त सुन्दर तथा संस्कृतमय शैली का प्रयोग किया है।

शब्द-चयन में द्विवेदीजी बड़े प्रगतिशील थे। उन्होंने उर्दू के चलते हुए शब्दों का प्रयोग किया है। द्विवेदीजी के समान शुद्ध तथा सुष्ठु वाक्यों का प्रयोग उनके समय तक किसी ने नहीं किया था। और वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन तथा भाषा की गठन में उन्होंने सुधार किया तथा उसे स्वाभाविक रूप दिया। वही रूप अब तक चला आता है।

द्विवेदीजी ने न केवल नूतन विषयों का परिचय ही हिन्दी से कराया वरन् उन्होंने विविध विषयों पर विविध शैली में लिखकर हिन्दी साहित्य तथा भाषा को शक्ति पहुँचाई।

(३) बाबू बालमुकुन्द गुप्त
(सं० १६२२ से १६६४)

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म पंजाब-रोहतक जिले के गुरयानी नामक ग्राम में हुआ था। आरम्भ में उन्होंने अरबी, फारसी तथा उर्दू की शिक्षा पाई और उर्दू में लिखना आरम्भ कर दिया। २२ वर्ष की ही अवस्था में गुप्तजी 'अखबारे-चुनार' का सम्पादन करने लगे। कुछ समय बाद उन्होंने लाहौर से निकलने वाले 'कोह-नूर' नामक उर्दू पत्र का सम्पादन किया। इसी समय पंडित मदनमोहन मालवीय तथा प्रतापनारायण मिश्र के प्रभाव से गुप्तजी हिन्दी में आ गये। गुप्तजी के समय तक भारतेन्दु तथा उनके साथी

काम कर रहे थे तथा हिन्दी-प्रचार का आन्दोलन बड़े जोरों से चल रहा था। इसी आन्दोलन से प्रभावित होकर गुप्तजी ने हिन्दी-संसार में प्रवेश किया। गुप्तजी सम्पादन कला में दक्ष थे ही, हिन्दी सीखते ही वे कालाकाँकर के 'हिन्दोस्तान' के सम्पादक हुए और अन्त में 'भारत-मित्र' के सम्पादक हो गये तथा स्वर्गवास तक उसमें लगे रहे।

गुप्तजी अधिकतर राजनैतिक तथा आलोचनात्मक लेख लिखा करते थे; सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्यात्मक निवन्ध भी उन्होंने लिखे। आलोचनात्मक लेख उन्होंने कम लिखे, परन्तु उनमें से दो-एक बड़े प्रसिद्ध हैं। गुप्तजी उर्दू से हिन्दी में आये थे अतः उर्दू की चुलबुलाहट उन्होंने अपनी हिन्दी को भी दी। अत्यन्त सुन्दर व्यंग्यात्मक लेख उन्होंने लिखे। वे अधिकतर राजनैतिक विषयों पर सरकार की कोप-दृष्टि से बचने के लिए "भंगेड़ी शिवशंभु शर्मा" के नाम से लिखा करते थे। 'शिवशंभु के चिट्ठे' के नाम से प्रचलित उनके अनेक अमूल्य निबंध हैं। चुटकी काटना गुप्तजी का विशेष काम था। किसी की कोई गलती हुई और विनोदपूर्ण व्यंग्य गुप्तजी ने किया, यहाँ तक कि उन्होंने द्विवेदीजी को भी नहीं छोड़ा, जब कि द्विवेदीजी ने अपने लेख में "अनस्थिरता" शब्द का प्रयोग किया था। इसी छेड़-छाड़ के कारण वे बड़े लोकप्रिय थे। गुप्तजी के निवन्धों का संग्रह "गुप्त-निवन्धावली" के नाम से छप चुका है। उन्होंने 'रत्नावली नाटिका' का सुन्दर अनुवाद भी किया था।

गुप्तजी ने ऐतिहासिक घटनाओं की तुलना द्वारा सुधार की ओर सुन्दर संकेत किये और वर्तमान दशा पर सुन्दर निवन्ध लिखे। उदाहरण देखिये :—

"इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं, चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भंग उधर घटा—बहार में बहार।..........कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। "बम भोला" कह कर शर्माजी ने एक लोटा चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बड़े लाट मिण्टो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्त्ति खोली। ठीक एक ही समय में ये दो आवश्यक काम हुए, भेद इतना ही था कि शिवशंभु के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिण्टो के सिर या छाते पर।"

गुप्तजी का गुण यह था कि चाहे किसी प्रकार का विषय क्यों न हो, उनकी प्रतिभा उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेट कर रखते थे कि पाठक उनका आभास बीच-बीच में पा जाता था। "शिवशंभु को इन चीजों की चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इन अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते।" इस कथन में विनोद के साथ तत्कालीन दशा का सुन्दर आभास मिलता है।

गुप्तजी की भाषा उर्दू की सहायता पाकर अत्यन्त सजीव हो गई थी। शैली उनकी व्यंग्यात्मक तथा चुभने वाले विनोद से युक्त थी। भाषा के विषय में वे उस समय के साधारण नियमों का पालन करते थे। शब्दों के चयन में वे अन्य लेखकों से अधिक कुशल थे। ऊपर के उदाहरण में "तबियत भुरभुरा उठी" कितना लाक्षणिक प्रयोग है। छोटे-छोटे तथा बड़े-बड़े दोनों प्रकार के वाक्यों का समुचित प्रयोग वे खूब करते थे।

भारतेन्दु-काल तथा द्विवेदी-काल, दोनों में साहित्य-सेवा के कारण उनका महत्त्व और भी अधिक हो गया है।

आधुनिक युग

(१) प्रेमचंद

(सं० १९३७ से १९९३)

एक उच्च कायस्थ कुल में उत्पन्न प्रेमचन्द्रजी का असली नाम धनपतराय था। आरम्भ में उन्होंने मैट्रिक पास करके एक स्कूल में नौकरी करली। धीरे-धीरे स्वाध्याय के बल पर उन्होंने बी० ए० पास किया, और राष्ट्रीयता की भावना में आकर उन्होंने नौकरी छोड़दी। प्रेमचन्द्रजी पहले उर्दू में लिखते थे और बाद में उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। बालमुकन्द गुप्त के समान प्रेमचंदजी भी उर्दू की चपलता को अपने साथ लाये। प्रेमचंदजी ने कहानियाँ लिखना तो सं० १९५८ से ही आरम्भ कर दिया था, पाँच-छह वर्ष बाद वे उपन्यास भी लिखने लगे। प्रेमचन्दजी उपन्यास सम्राट् कहे जाते हैं। उनके से सामाजिक उपन्यास पहले हिंदी में न थे और अब आगे निकलेंगे यह भी नहीं कहा जा सकता। सेवा-सदन' से लेकर 'गोदान' तक उन्होंने अनेकों उत्कृष्ट उपन्यासों का ढेर-सा लगा दिया। 'गबन', 'कायाकल्प', 'रंग-भूमि,' 'प्रेमाश्रम' आदि उनके (उपर्युक्त दोनों के अतिरिक्त)

मुख्य उपन्यासों में से हैं। उन्होंने सैकड़ों मौलिक कहानियाँ लिखीं, नाटक भी लिखे। प्रेमचन्द्जी के उपन्यासों का मूल्य इसी से आँका जा सकता है कि उनका कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। आधुनिक गद्य के लेखकों में प्रेमचन्दजी सर्वोपरि हैं।

प्रेमचन्दजी ने अधिकतर सामाजिक तथा कुछ राजनैतिक समस्याओं पर अपने उपन्यास तथा कहानियों की रचना की। वे पूर्ण रूप से राष्ट्रीय तथा गाँधीवाद के अनुगामी थे। राष्ट्र-चेतना तथा स्वतन्त्रता के युद्ध में जब अन्य लोग और प्रकार योग दे रहे थे तब प्रेमचन्दजी अपनी लेखनी द्वारा राष्ट्र में नवचेतना का भाव फूँकने का प्रयत्न कर रहे थे। प्रेमचन्दजी की सबसे बड़ी विशेषता थी उनका मानव-प्रकृति का ज्ञान। वे मनुष्य के अन्तरतम से उसी प्रकार परिचित थे जिस प्रकार महाकवि तुलसीदास थे। इसके साथ-साथ प्रेमचन्दजी में एक गुण और भी था: वे धनी, दरिद्र, पापी, सुकृत तथा प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक प्रकार के लोगों का मनोविज्ञान खूब समझते थे। जैसा स्वाभाविक चित्रण वे एक नगर-निवासी लखपती का कर सकते थे वैसा ही स्वाभाविक चित्रण वे ग्रामवासी दरिद्र किसान तथा मिलके मजदूर का कर सकते थे। इस प्रकार की प्रतिभा के कारण ही वे इतने सुन्दर सामाजिक उपन्यास लिख सके। मानव के मनोविज्ञान से पाठकों का परिचय कराना उनका मुख्य विषय था। सामाजिक कुरीतियों—बाल विवाह, विधवा विवाह, दहेज, स्त्रियों का अत्यधिक आभूषण प्रेम आदि—पर उन्होंने अनेक कहानियाँ तथा उपन्यास लिखे। राजनैतिक जागरण तथा स्वतन्त्रता के वे पूर्ण हामी थे, और उनका कोई उपन्यास ऐसा

नहीं जिसमें कि उन्होंने किसान-मजदूरों की दुर्दशा, पुलिस का अत्याचार, जमीदारों का अनाचार तथा देशद्रोह, पाखण्डी धर्माधिकारियों की पोल, सरकार का अन्याय अथवा कांग्रेस के स्वतंत्रता-आंदोलन का चित्रण न किया हो। समय पर मानव प्रकृति के अनुसार प्रेमचन्दजी यद्यपि हिंसा के प्रयोग का भी चित्रण करते हैं, किन्तु वे थे पूर्णतया अहिंसावादी। वे प्रत्येक रूप से प्रगतिगामी थे, उन्हें धर्म में पाखण्ड से घृणा थी, और 'मोटे राम की डायरी' में उन्होंने पाखण्डी ब्राह्मणों की पोल खोली है। देश, समाज, धर्म, संस्कृति तथा साहित्य कोई ऐसा विषय नहीं है जिस पर कि उन्होंने अपनी लेखनी न उठाई हो। उसी सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर वे उपन्यास सम्राट के आसन पर आसीन हुए थे।

प्रेमचन्दजी की शैली अत्यन्त रोचक तथा शक्तिशाली थी वे गद्य में भावावेश के समय कविता-सी करने लगते थे। गद्य में प्रेमचन्द जैसा स्वाभाविक तथा मनोरम प्रकृति-चित्रण अब तक कोई नहीं कर सका है। भावानुकूल प्रकृति का दर्शन हम प्रेमचन्द के सब उपन्यासों में पाते हैं और उनकी सफलता की जड़ में है उनकी शैली। प्रेमचन्दजी ने अपनी शैली को विविध विषयों के खराद पर चढ़ाकर विषयानुकूल बना लिया था। जहाँ वे गम्भीर विवेचन करते हैं—जैसे 'उपन्यास' नामक लेख में—वहां उनकी शैली बड़ी विवेचनात्मक हो जाती है। विषय का पुंखानुपुंख विश्लेषण करके वे उसे अत्यन्त सरल भावगम्य बना देते हैं। जहाँ वर्णन करना होता है, चाहे चरित्र, घटना अथवा व्यक्ति किसी काव्य हो, वहाँ वे प्रभावशाली शब्दों का सुन्दर चयन करके अत्यन्त अमिट प्रभाव डालने वाला वर्णन करते हैं। प्रेमचन्द का-सा मीठा तथा तीक्ष्ण व्यंग्य

उपन्यासकारों में कम मिलता है। नीचे देखिये ग्रामीणजन अपनी 'मँडौती' में एक सूदखोर तथा कर्जदार का अभिनय करते हैं। इस कथोपकथन में प्रेमचन्द ने सूदखोरों के अत्याचार का चित्रण किया है। साथ ही साथ सूदखोर पर थोड़ा-सा कटाक्षपूर्ण अभिशाप भी छोड़ा है। एक दरिद्र एक महाजन से दस रुपये उधार लेने जाता है। कागज कर देने के बाद महाजन ने उसे पांच रुपये दिये। इसके बाद :—

'यह तो पॉच ही हैं, मालिक।'
'पॉच नहीं दस हैं, घर जाकर गिनना।'
'नहीं सरकार पाँच हैं।'
'एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं?'
'हां सरकार।
'एक तहरीर का?'
'हां सरकार।'
'एक दस्तूरी का?'
'हाँ सरकार।'
'एक सूद का?'
'हॉ सरकार।'
'पाँच नगद, दस हुए कि नहीं?'

'हाँ सरकार, अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजिये।'

'कैसा पागल है।'

'नहीं सरकार। एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का, एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक रुपया बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपकी किरया-करम के लिए।

उपर्युक्त उदाहरण से दो बातें साफ हो जाती हैं।-प्रथम, प्रेमचन्दजी संवाद लिखने में बड़े पटु थे तथा उनकी शैली बड़ी शक्तिशाली थी। इसी शैली के बल पर वे चरित्र-चित्रण मे उत्कृष्टता लाते थे। इसी शैली के प्रभाव से वे ऐसे-ऐसे चरित्रों का निर्माण कर गये हैं जो कि हिंदी-साहित्य में अमर हैं। यदि बहुत खोजा जाय तो प्रेमचन्द में एक दोष कहीं-कहीं वहुत थोड़ी मात्रा में पाया जाता है। वे कहीं-कहीं अपनी सुधार-भावना को उपन्यास में अधिक स्थान दे देते हैं जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है मानों लेखक उपदेश दे रहा हो। यह दोप भी गुण बन जाता है, जब हम यह सोचते हैं कि उस समय ऐसे उपदेशों की कितनी आवश्यकता थी।

प्रेमचन्दजी की भाषा की विशेषता है, उसका भावानुकूल, पात्रानुकूल तथा परिस्थिति के अनुकूल होना। अधकचरे साहब के मुँह से वे बड़ी स्वाभाविक "गिटपिट" मिश्रित भाषा का प्रयोग करवा सकते थे और उतनी ही सफलता के साथ वे एक ग्रामीण से चलती भाषा और एक कवि से साहित्यिक भाषा का प्रयोग करवा सकते थे। जैसी चलती हुई तथा सरल भाषा प्रेमचन्द स्वाभाविकता के साथ लिख गये हैं वैसा अब किसी के द्वारा होना असम्भव दिखाई देता है। शब्द-चयन में प्रेमचन्द बड़े उदार थे। अँगरेजी, उर्दू आदि विदेशी भाषाओं के चलते शब्दों का प्रयोग वे सर्वदा किया करते थे। वाक्य-रचना, तथा भाषा के और गुणों के विषय में केवल इतना ही कहना है कि उनको कोई नहीं पा सका।

प्रेमचन्द उपन्यास सम्राट् थे और उन्होंने अपने राज्य का

अत्यन्त सफलता से पालन किया। उनकी कृतियाँ जब तक हिन्दी और हिन्दुस्तान के प्रेमी हैं तब तक अमर रहेंगी।

---

(२) पण्डित रामचन्द्र शुक्ल
(सं० १६४१ से १६६८)

शुक्लजी का जन्म बस्ती जिले में सं० १६४१ में हुआ था। आपका कुटुम्ब ही तुलसी-प्रेमी था। कहा तो यहाँ तक जाता

है कि आप तुलसी के कुल से सम्बन्धित भी थे। साहित्य-प्रेम शुक्लजी मे आरम्भ से ही था। आपने १६५८ में मैट्रिक पास किया और फिर कुछ समय उपरांत कानून की परीक्षा में बैठे, किन्तु सफल न हो सके। भारतेन्दुजी के समकालीन पंडित बदरीनारायन चौधरी प्रेमघन का आपको कुछ सहवास मिला और आपने उनके द्वारा संपादित 'आनन्द कदम्बिनी' नामक पत्रिका में अपने लेख देने आरम्भ किये। उसी समय से आपने हिंदी प्रेमियों को आकर्षित कर लिया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हिंदी-शब्द सागर' के सम्पादक-मण्डल में आपने कार्य किया तथा 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी किया। अंत में वे हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक तथा हिंदी विभग के अध्यक्ष रहे। सं० १६६८ में आपका स्वर्गवास हो गया।

हिंदी साहित्य में निबन्ध-लेखकों, साहित्यिकों, तथा आलोचकों में शुक्लजी का स्थान सर्वोपरि है। इतना गम्भीर विद्वान् तथा विचारशील गद्य-लेखक अब तक हिंदी-संसार में दूसरा नहीं हुआ। शुक्लजी की अमर कृतियों में से हिंदी-साहित्य का इतिहास', 'भ्रमरगीतसार' तथा 'चिन्तामणि' (दो भाग) विशेष महत्त्वशाली हैं। उन्होंने कविता भी की थी। उनका 'बुद्धचरित्र' अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ है, किन्तु कविता की कल्पना मात्र तक ही शुक्लजी का विद्वान् मस्तिष्क न रुक सका—वे अपनी प्रकृति के अनुसार गम्भीर विषयों की ओर बढ़े। जायसी, तुलसी तथा सूर की जितनी सुन्दर आलोचना—जीवनी, दार्शनिक तत्व तथा कवि के मानस के विश्लेषण के साथ—शुक्लजी कर गये हैं, वैसी आलोचना किसी से भी किसी की भी नहीं बन पड़ी। शुक्लजी की आलोचना में खोज, कवि के भावों को समझने की सहानुभूति तथा विद्वत्ता का पूर्ण समावेश रहता था। सबसे बड़ा कार्य शुक्लजी ने जो किया वह था साहित्य-क्षेत्र से कूड़ा करकट हटाना। व्यर्थ के कागज काले करने वाले कवियों की उन्होंने खूब खबर ली। जो अच्छा था उसकी रक्षा तथा जो बुरा था उसका निकालना ही शुक्लजी का ध्येय था। इसी कार्य के कारण वे साहित्य में अमर हो सकते हैं। अपने इतिहास में (जो अब तक के प्रकाशित सब इतिहासों में श्रेष्ठ है) उन्होंने खोज करके विषयों का विवेचनात्मक विकास और कवियों का तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का क्रमिक विकास बड़ी विद्वत्ता से दर्शाया है। उनका इतिहास अन्य इतिहासों से इस बात में भिन्न तथा श्रेष्ठ है कि उसमें काल-विभाग का साहित्यिक-प्रवृत्तियों के विकास के साथ सुन्दर सामंजस्य है। शुक्लजी ने आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त

काव्य-शास्त्र पर भी अद्वितीय ग्रन्थ लिखे हैं। रस-शास्त्र तथा रहस्यवाद आदि पर उनका कहा हुआ प्रमाण माना जाता है। इस प्रकार के विषयों के अतिरिक्त शुक्लजी ने मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी लिखे। इन निबन्धों की-सी गठन वाले निबन्ध हिंदी-साहित्य मे थोड़े हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि निबन्धों की शुद्ध परम्परा शुक्लजी ने ही हिन्दी में चलाई।

शुक्लजी ने निबन्धों का एक आदर्श सामने रक्खा था। उसके अनुसार निबन्धों में एक गूढ़ गुम्फित भाव-परम्परा का होना आवश्यक है, जिससे कि पाठक का मन नूतन विचार-पद्धति की ओर दौड़ उठे। उनके निबन्धों में विचार ठूँस-ठूँस कर भरे पाये जाते हैं। उनके निबन्धों के विषय वैभिन्य के साथ उनकी शैली भी बदलती रहती है। औचित्य के अनुसार वे (१) गम्भीर समीक्षा-शैली, (२) गवेषणात्मक शैली तथा (४) भावपूर्ण शैली का अनुगमन करते हैं। अपनी समीक्षा-शैली का प्रयोग वे उस समय करते हैं, जब उन्हें साहित्य की साहित्यिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों को साथ लेकर, आलोचना करनी होती है। इसी प्रकाशकारी समीक्षा के कारण शुक्लजी प्रसिद्ध हैं।

शुक्लजी ने गवेषणात्मक तथा भावपूर्ण शैली का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। उन्होंने भावों को बारीकी से चुन-चुन कर उनको उसी प्रकार धो-पोंछ कर कल्पना से सुगन्धित किया है जिस प्रकार वेणी के प्रत्येक केश का विचार न करते हुए भी प्रत्येक केश में सौंदर्य, सुगन्ध तथा स्वच्छता वेणीबंधन के समय आ जाती है। शुक्लजी की शैली की विशेषता के कारण उनके एक-एक विचार में सौंदर्य है। बँधे जूड़े के समान

जब वे इकट्ठे देखे जायँ तो उनका सौंदर्य अद्वितीय हो जाता है। नीचे का उदाहरण देखिये :—

यह बात कुछ उत्साह में नहीं, अन्य मनोवेगों में भी बराबर देखी जाती है। यदि हम किसी पर क्रुद्ध बैठे हैं और इस बीच में कोई दूसरा आकर कोई बात पूछता है तो उस पर भी हम झुँझला उठते हैं। इस झूँझलाहट का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं। केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध में ही रहना चाहते हैं। इस क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन-उन बातों से भी क्रोध ही संग्रह करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भावों को ग्रहण करते हैं।" (चिन्तामणि)

शुक्लजी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि शुष्क तथ्यों का विवेचन करते हुए भी उसमें वे रस भर देते हैं। उनके तीक्ष्ण व्यंग्य प्रसिद्ध हैं। अपनी शैली में समझाने के लिए वे कोष्ठक में अँगरेजी के शब्दों को स्थान देते हैं। और इस कारण शैली को व्यक्त करने की शक्ति और भी बढ़ जाती है। भाषा के विषय में वे स्वयं बड़े उदार थे। उर्दू के बड़े-बड़े शब्द वे अवसर पड़ने पर प्रयोग कर लेते थे। 'ताल्लुक' को वे अपने शुद्ध रूप 'तअल्लुक' में लिखने के पक्षपाती थे। इसी प्रकार उच्चारण की शुद्धता उनका सर्वदा एक गुण रहा।

शुक्लजी संस्कृत के तथा अँगरेजी के उद्धरण भी खूब दिया करते थे। गद्य में वे सुन्दर अलंकारों का प्रयोग करते थे। अधिक व्यंग्य में और भावावेश में अथवा प्रकृति-वर्णन में (प्रकृति से उन्हें अत्यन्त प्रेम था) उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग किया करते थे। उनकी विशेषता यह भी

कि उनके अलङ्कार सर्वदा अर्थोत्कर्ष के लिए ही आते थे। अलङ्कार द्वारा वे अर्थ को पाठक के हृदय तक विद्युत्-वेग से पहुँचाने में सर्वदा समर्थ हुए हैं। नीचे देखिये कितनी उपयुक्त उपमा दी है।

"भावुकता भी जीवन का अङ्ग है अतः साहित्य की किसी शाखा से उसे हम विलकुल हटा तो सकते नहीं। हाँ, यदि वह व्याधि के रूप में – पीलपाँव के रूप में बढ़ने लगे, तो उसकी रोक-थाम आवश्यक है।"

शुक्लजी ने साहित्य के इतिहास, समालोचना तथा निवंध-क्षेत्र में अपना जो स्थान वना लिया है वह सर्वदा उन्हें प्राप्त रहेगा।

---

(३) जयशंकर 'प्रसाद'

(सं० १९४६ से १९९४)

प्रसादजी के जीवन के विषय में हम पहले ही उनके कवि रूप के वर्णन में लिख आये हैं। प्रसादजी जितने कवि थे उतने ही वड़े गद्यलेखक भी थे—किन्तु साथ-साथ यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये कि वे प्रथम कवि थे और उसके उपरान्त गद्यलेखक थे। इसी कारण उनके गद्य भी कविता के समान ही सरस तथा कल्पनापूर्ण हैं।

प्रसादजी ने नाटक, कहानियाँ तथा उपन्यास तीनों लिखे। 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नाग यज्ञ', 'स्कंदगुप्त', 'राज्यश्री', 'ध्रुव-स्वामिनी' आदि अनेक सुन्दर नाटक उन्होंने लिखे। प्रसादजी के नाटकों की विशेषता है उनकी ऐतिहासिकता। दो नाटकों को छोड़कर प्रसादजी ने सव नाटक

इतिहास से कथा लेकर ही लिखे। प्रसादजी ने प्राचीन युग (पौराणिक युग तक) से कथाओं को लेकर उनमें अपनी रुचि के अनुसार थोड़ा-सा परिवर्तन करके सुन्दर नाटकों की सृष्टि की। हिन्दी साहित्य में नाटकों का अभाव है। भारतेन्दु के बाद प्रसादजी ने ही नाटक लिखे, और उनके बाद उतने सुन्दर नाटक लिखे ही नहीं गये। हिन्दी-साहित्य के नाटक-क्षेत्र में उनका वही स्थान है जो उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्दजी का है। भारत की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति से आधुनिक युग के पाठकों का परिचय कराकर प्रसादजी ने अतुलनीय कार्य किया है। उन्होंने उन नाटकों में तत्कालीन देश-काल की प्रवृत्ति तथा तत्कालीन समस्याओं का बड़ा समावेश किया है। नाटकों में उनके संवाद दर्शनीय हैं। भाषा का प्रवाह तथा भावों का वेग हृदयहारी है :—

"अलका—(निःश्वास लेकर)—इसका मैं अनुभव कर रही हूँ। परन्तु जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव-वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है और दृढ़ भुजाओं में आर्य्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है। तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिये। मैं भी आर्य्यावर्त्त की बालिका हूँ—उसी नाते तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम शीघ्र गान्धार छोड़ दो। मैं आम्भीक को शक्ति भर पतन से रोकूँगी, परन्तु उसके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी। जाओ वीर!"

(चन्द्रगुप्त)

हिन्दी-साहित्य के नाटक-क्षेत्र में प्रसादजी ने क्रांति उत्पन्न कर दी। बँगला, अँगरेजी तथा भारतीय प्राचीन नाटक-पद्धति का सुन्दर समावेश करके उन्होंने नाटक रचना का आधुनिक रूप स्थिर किया, जो अब प्रचलित हो गया है। प्रसादजी ने

नाटकों में देश-प्रेम तथा अपनी संस्कृति का प्रेम दर्शाया है। धर्म क्या है, उसका कैसे आचरण होना चाहिये, इसका अच्छा विवेचन उन्होंने किया है। ब्राह्मण क्या है, उसका गौरव किस प्रकार के आचरण में है, नीचे देखिये:—

"ब्राह्मण न किसी राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वाराज्य में विचरता है, अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है? ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देगा।"

इस प्रकार प्रसादजी ने नाटकों द्वारा भारतीयों में जीवन का रस बहाया।

प्रसादजी ने जितने सुन्दर नाटक लिखे उतनी ही सुन्दर कहानियाँ भी लिखीं। उन्होंने 'कंकाल' तथा 'तितली' नाम के दो उपन्यास भी लिखे। कहानियों के संग्रह निकल चुके हैं, जिनमें 'आकाश दीप', आँधी' और 'छाया' प्रसिद्ध हैं। प्रसादजी ने कवितामय वर्णनों, ऊँची भाषा, चित्रोपम शैली तथा कथा के सुन्दर बन्ध द्वारा कहानी साहित्य को चमकाया। उन्होंने कहानियों में 'अन्तर्द्वन्द्व' तथा बहिर्द्वन्द्व' दोनों को स्थान दिया। प्रकृति चित्रण का सौंदर्य यदि गद्य में देखना हो तो हमें उनकी कहानियाँ पढ़नी चाहिएँ, जैसे 'आकाश दीप' कहानी आरम्भ करने को उनका एक चमत्कारी पथ है। प्रसादजी की-सी कहानी का अर्थ तथा अन्त हमें हिन्दी साहित्य में देखने को कम मिलता है। उपन्यास तथा कहानी दोनों में उन्होंने समान शैली का प्रयोग किया है। चरित्र-चित्रण में वे अपने उपन्यासों में आन्तरिक विश्लेषण तथा मनोविज्ञान को अधिक स्थान देते हैं जो कि आधुनिक काल की सामान्य प्रवृत्ति है।

प्रसादजी ने भाषा का सर्वदा उच्च प्रयोग किया है। उन्होंने अपनी भाषा को पूर्णतया भारतीय तथा शुद्ध बनाने का प्रयत्न किया है। कभी भी उर्दू अथवा अन्य विदेशी भाषा का एक भी शब्द उन्होंने प्रयोग नहीं किया। देश-काल के अनुरूप भाषा में वे भेद करते आये हैं। अपने नाटकों में प्राचीन पदवियों तथा संबोधनों का प्रयोग वे सर्वदा करते हैं। जैसे 'महाबलाधिकृत', भट्टारक' आदि। नीचे एक उदाहरण देखिये :—

"सौम्य ! अब अवधि पूरी हो चुकी। कुलपति ने मुझे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा देदी है। केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था, क्योंकि इस वर्ष के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझ अकिंचन को गुरुदक्षिणा देनी थी।"

भाषा के विषय में उन्होंने अपना स्तर कभी नीचा नहीं किया, हाँ कभी-कभी कुछ सरल (किन्तु सर्वदा शुद्ध) भाषा का संवादों में प्रयोग कर दिया है।

प्रसादजी ने अपने गद्य में भावों तथा कल्पनाओं का ऐसा मेल मिलाया है कि उनका गद्य भी पद्य के समान सुन्दर तथा मनोहर है। प्रसादजी उच्चतम कवि थे और गद्य-लेखन में अपना सानी नहीं रखते थे।

---

(४) वृन्दावनलाल वर्मा

(जन्म सं० १९४७)

हिन्दी साहित्य के स्कॉट, ऐतिहासिक उपन्यास लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म १९४७ संवत् में झाँसी जिले

में मऊरानीपुर में हुआ था। वर्माजी को साहित्य से स्वाभाविक प्रेम है। आप झाँसी में वकालत करते हैं और बी०ए० एल-एल० बी० हैं। आपको संगीत से प्रेम है और शिकार से भी। बुन्देलखण्ड के वन प्रांत में आप खूब विचरते हैं। आपको अपनी मिट्टी, अपनी प्रकृति तथा अपने पशु-पक्षिओं से अत्यन्त प्रेम है।

वर्माजी ने ही हिन्दी-साहित्य को ऐतिहासिक उपन्यास दिये जो कि उच्च कोटि के हैं। 'गढ़ कुण्ढार', 'विराट की पद्मिनी', 'कुण्डली चक्र' 'कचनार', 'मुसाहिबजू' 'झाँसी की रानी' आदि आपके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। "लो भई पंचो लो" आदि आधुनिक पद्धति पर आपने अनेक नाटक भी लिखे हैं। मध्यभारत के तथा भारत के मुगल काल से लेकर अब तक के इतिहास से उन्होंने कथाएँ ली हैं। अपनी कथाओं में उन्होंने पूर्ण ऐतिहासिक तथा कल्पना का समावेश रक्खा है। ऐतिहासिक तत्वों की खोज बड़े परिश्रम से करते हैं। 'झाँसी की रानी' के लिए तथ्य-संग्रह में उन्होंने कोई १५ वर्ष विताये और पूर्णरूप से प्राचीन प्रमाणों को खोज कर ही अपना उपन्यास लिखना आरम्भ किया। इतिहास के साथ-साथ कल्पना, भावना, देश-प्रेम, शौर्य तथा चमत्कार का समावेश वर्माजी की विशेषता है। प्रेम का, तथा प्रेम के विविध पक्षों का सुन्दर विवेचन तथा

वर्णन उन्होंने किया है। 'गढ़ कुण्ढार' का जो प्रेम-वातावरण है वह अद्वितीय है। क्या उपन्यास, क्या कहानियाँ, क्या जीवनियाँ, जो कुछ आपने लिखा उसमें स्वाभाविकता तथा भावाना, कल्पना का पूर्ण समावेश किया है। आपने शिकार-विषयक कहानियाँ तथा लेख भी लिखे हैं। वर्माजी ने अपनी रचनाओं में सर्वदा कथा तथा चरित्र का सामंजस्य रक्खा है। उनके उपन्यास घटना प्रधान होते हुए भी चरित्र को पूर्णतया चित्रित करते हैं।

शैली में वर्माजी ने बहुत कुछ प्रेमचन्द का अनुकरण किया है। वही स्वाभाविकता, वही सरलता, वही प्रभावपूर्ण कोमल लपेट उनकी शैली में मिलती है, देखिये :—

ठाकुर ने प्रश्न किया, "कौन लोग हो ?"

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी आँखों में कठोरता छा गयी। बोला—"जानता है, यह किसका घर है ? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने ?"

रज्जब ने आशा भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है इस लिए शरण में आया हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों से कठोरता गायब हो गई। ज़रा नरम स्वर में बोला, "किसी ने तुझको बसेरा नहीं दिया ?"

"नहीं महाराज !" रज्जब ने उत्तर दिया, बहुत कोशिश की परंतु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाजे से बाहर हो, एक कोने से चिपट कर बैठ

गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी-सी बनकर सिमट गई। ठाकुर ने कहा, "तुम अपनी चिलम लिये हो?" (शरणागत)

शैली की इसी सरलता के कारण क्लिष्ट ऐतिहासिक तथ्यों को वे रस तथा प्रभाव देने में समर्थ हुए हैं। उनके संवादों की (उपन्यास तथा नाटक दोनों में) सफलता का श्रेय भी वर्माजी की इसी शैली को है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, वास्तविकता का पुट तथा रोमांस का विलक्षण प्रभाव जो वर्माजी के साहित्य की विशेषताएँ हैं सब उनकी इसी प्रवाहपूर्ण शैली पर आधारित हैं। अपनी शैली तथा भाषा में यथावसर वे बुन्देली प्रयोग भी करते हैं, और इससे स्वाभाविकता और भी बढ़ जाती है। जिस प्रकार प्रेमचन्द भाषा को पात्रानुकूल तथा परिस्थिति के अनुसार बदलते जाते थे उसी प्रकार वर्माजी ने भी भाषा के लोच से लाभ उठाकर उसे अपनी रुचि के फर्मे में ढालकर उससे सुन्दर मूर्त्ति-विधान प्रस्तुत किया है।

शैली की सफलता का श्रेय वर्माजी के सरल स्वभाव तथा दार्शनिक ग्रामीण प्रवृत्ति को है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द सामाजिक उपन्यास के क्षेत्र में तथा प्रसाद ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में एकछत्र राज्य करते थे और करते हैं, उसी प्रकार वर्माजी ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में एकछत्र राज्य करते रहेंगे। अब भी वे अपने एक नूतन उपन्यास के तथ्य संकलन में लगे हैं।

(५) राय कृष्णदास

(जन्म सं० १६५६)

एक प्रतिष्ठित अग्रवाल वंश में राय कृष्णदास का जन्म सं० १६५६ में हुआ था। इनके पिताजी भारतेन्दुजी के फुफेरे भाई थे। राय कृष्णदासजी ने ६ वर्ष की अवस्था से ही कविता करनी आरम्भ कर दी। इस पथ के अनुसरण के लिए इन्हें मैथिलीशरण गुप्त से प्रेरणा तथा प्रदर्शन मिला। जब ये अठारह वर्ष से भी कम के थे तभी इन्होंने एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया, जो कि पूर्ण न हो सका। गुरुदेव की 'गीतांजलि' की पद्धति पर इन्होंने 'साधना' नाम से अपनी पुस्तक लिखी जिसमें गद्य काव्य है। आप कहानियाँ भी लिखते हैं। आप पर बँगला का प्रभाव पड़ा है।

'साधना', 'छायापथ', 'प्रवाल' गद्य-संग्रह तथा 'अनाख्या' 'सुधांशु', 'आँखों की थाह' आपके कहानी-संग्रह है। राय कृष्णदासजी कलाप्रेमी हैं और कविता तथा कल्पना के उपासक हैं। आपने अधिकतर गद्य काव्य लिखे हैं और आपके से सुन्दर तथा सरल गद्य-काव्य अब तक हिन्दी में कोई नहीं लिख सका है। आपकी कहानियाँ भी अधिकतर भावमयी होती हैं, वैसे कुछ घटना प्रधान कहानियाँ भी आपने लिखी

हैं। गद्य-काव्य तथा कहानियाँ दोनों आपने अपनी कवित्वमयी शैली में ही लिखे हैं। इनकी कहानियों में भी कविता का रस आता है। 'प्रसन्नता की प्राप्ति' नामक कहानी में माता-पुत्र का, पिता का, तथा पति-पत्नी का, तीनों प्रकार के प्रेमों का सुन्दर सामंजस्य अत्यन्त भावनापूर्ण है।

राय कृष्णदासजी की शैली अत्यन्त भावपूर्ण है, वे कभी-कभी उद्धरणों द्वारा बड़ा सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करते हैं, 'प्रसन्नता की प्राप्ति' नामक कहानी के अन्त में उन्होंने

"महल में नैक चलो ब्रजरानी।
देखो अपने सुत की करनी, दूध मिलावत पानी॥"—

सूर का यह उद्धरण देकर बालक चुल्लक के उत्पात का बड़ा मनोहर प्रेमपूर्ण प्रभाव दर्शाया है। राय कृष्णदासजी शुद्ध तथा उच्च भाषा लिखते हैं, किन्तु उनके आध्यात्मिक विचार भी उनकी भाषा को दुरूह नहीं बना पाते। वे सदा इस बात का विचार रखते हैं कि वे अस्पष्ट न हो जायँ। यह प्रसादजी से उनका भेद है। राय कृष्णदासजी भाषा को चपल तथा रेशम के समान चिक्कण बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि उसका प्रवाह स्निग्ध (Smooth) तथा सरल हो जाता है, और उसका प्रभाव चमत्कारी होता है।

राय कृष्णदासजी ने अपनी भाषा में सर्वदा अलङ्कारों को स्थान दिया है—और दें क्यों न, उनका गद्य भी कविता के समान ही कल्पना-भावना-प्रसूत हुआ करता है। नीचे के उद्धरण में सरल भाषा तथा सामान्य भावों द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति को देखिये :—

"मेघ—(इठलाकर) धन्य रे व्रती, मानो श्रद्धापूर्वक सूर्य को वह दान देता हो। क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता?

सागर—(गम्भीरता से और वाड़व जो मुझे नित्य जलाया करता है, तो भी मैं उसे नित्य छाती से लगाये रहता हूँ। तनक उस ओर ध्यान दो।

मेघ—(मुस्कराकर) हाँ, उसमें तेरा और कुछ नहीं, शुद्ध स्वार्थ है। क्योंकि तुझे यदि वह सदा जलाता न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय।

सागर—(गरजकर) तो उसमें मेरी क्या हानि। हाँ प्रलय अवश्य हो जाय।"

रायकृष्णदासजी ने अपने गद्य-काव्यों में अधिकतर प्रेम की उच्चता तथा आध्यात्मिक तथ्यों को ही स्थान दिया है।